श्रीहरिः ।

॥ अवतारमीमांसा ॥

अवतार-कारिका-सहित

पोरबन्दरनिवासी, वल्लभकुलावतंस, गोस्वामि-
श्री १०८ जीवनाचार्य महाराज की
आज्ञानुसार .

पटना गवर्मेन्टकालिज के प्रधानसंस्कृताध्यापक
भारतरत्न पण्डित अम्बिकादत्त व्यास
साहित्याचार्य रचित ।

हरिप्रकाश यन्त्रालय

काशी

१८५६

पहिली बार १०००]

[मूल्य ॥)



वल्लभकुलभूषण गोस्वामि श्री १०८
जीवनाचार्य महाराज

(काठियावार-पोरबन्दर-निवासी)

श्रीहरिः।

हरि की चारौं भुज सरिस सम्प्रदाय हैं चार।
एक एक तें एक बढ़ि भरी प्रेमभण्डार॥ १॥
चतुर्व्यूह हरि रूप जनु धरे अहैं अवतार।
मानहुं चारहुं वेद के प्रगट अहैं ये सार॥ २॥
येई चारहुं खम्भ जनु अहैं धर्मआधार।
दायक हैं फल चार के करत अधमउद्धार॥ ३॥
शिव लक्ष्मी ब्रह्मा बहुरि त्यों सनकादिक जान।
आदि प्रवर्त्तक चार ये सम्प्रदाय के मान॥ ४॥
इनकि उपदेसक अहैं स्वयं आदि भगवान।
यामैं पुरुषोत्तम अहैं मूल भूत गुन खान॥ ५॥
पुरुषोत्तम सितिकण्ठ अरु नारद वेदव्यास।
पनि श्रीशुक जिन कहि कथा पूरी जग की आस॥६॥
शैव मार्ग हरिभक्ति को या विधि भयो प्रचार॥
श्रीविष्णुस्वामी भये सम्प्रदाय आधार॥ ७॥
तिन के पाछें पुनि बढ्यो कलुषी कलि परताप।
आसुर मत चहुंदिस छयो भर्यौ तमोगुन पाप॥८॥
मायावादी बहु भये जग कौं मिथ्या भाषि।
भक्ति कर्म को लोप कै अहं ब्रह्म लियो राषि॥९॥

ब्रह्माहं भाषत फिरैं करैं जोई मन होइ।
पाप करैं मिथ्या कहैं कर्म दियो सब खोइ ॥१०॥
भले बुरे दोउ भाव कों एक तराजू तोलि।
अनिर्वाच्य मायिक कहत सब कों मिथ्या बोलि ॥११॥
नित्य मुक्त कहि ब्रह्म कों कहत ब्रह्म को बन्ध।
दर्शक ताही कों कहत कहत ताहि कों अन्ध ॥१२॥
वादजाल फैल्यो घनो भयो भक्ति उच्छेद।
हिंसा की बहुता भई गयो प्रेम को भेद ॥ १३ ॥
तबहीं दच्छिण देश मैं चम्पक बन के माहिं।
सुभग वंस तैलंग में जहं आचार सुहांहिं ॥ १४ ॥
प्रगट भये हरि अंस सों श्रीवल्लभ आचार्य।
जिन को सब वर्णन करत या भारत के आर्य ॥१५॥
उनइस सौ पन्द्रह १९१५ सुभग संवत माधव मास।
कृष्णपच्छ एकादशी, कियो आपु परकास ॥ १६ ॥
या भारत के भाग्य सों भयो अग्नि अवतार।
मलिन भाग्य कों नासि जिन कीनो धर्म प्रचार १७
प्रेम अमी कों बरसि जिन भारत दीनों बोरि।
कृष्ण कथा फैलाइ पुनि लियो सुजन मन चोरि॥१८॥
करिकै तीन प्रदच्छिना भारत भूमि मझार।
ठौर २ उपदेश कै कियो धर्म परचार ॥ १९ ॥

जहां २ निज भमन मैं बैठि कियो सप्ताह।
तहां २ तीरथ भयो देखत बढ़त उछाह ॥ २० ॥
व्यास सूत्र मैं भाष्य कै गीताभाष्य बनाइ।
किते ग्रन्थ निर्मित किये प्रेम प्रवाह बहाइ ॥ २१ ॥
इन कों हरि दरसन दियो सावन के सित पच्छ।
तिथि एकादसि रैनि मैं भाष्यो पुनि परतच्छ ॥ २२ ॥
इन ताही अनुसार पुनि सबन कियो उपदेस।
मायामत विध्वंसि हिय कीनो प्रेम प्रवेस ॥ २३ ॥
ठौर ठौर शास्त्रार्थ कै सबै विपच्छ हराय।
वैष्णवता को जगत मैं डङ्का दियो बजाय ॥ २४ ॥
गोस्वामी तिन के सुवन विट्ठलेश आचार्य।
प्रगट भये जगवन्द्य जिन कीने भारी कार्य ॥ २५ ॥
विद्वन्मण्डन ग्रन्थ कै खण्डौ मायावाद।
जाकों लखि विद्वान के हिय मैं होत प्रमाद ॥ २६ ॥
इन के नाना ग्रन्थ लखि गये सबै बुध मोहि।
सहस २ भये सिष्य जिन पियो भक्ति रस दोहि ॥ २७ ॥
तिनके श्रीगिरिधर भये करत जगत उजियार।
श्रीदामोदर तिहिं सुवन कीनो प्रेम प्रचार ॥ २८ ॥
श्रीयुत विट्ठल राय जी सुत तिन के सुख दान।
ब्रज के माहिं बिराजि कै कह्यो भक्ति अरु ज्ञान २९

काकावल्लभ तिन सुभन पूजत श्रीश्रीनाथ ।
सहसन सेवक गनन के कर सरोज दियो माथ ॥३०॥
तिन लखि म्लेच्छ समूह सों पूरित सब ही थान ।
दुष्ट देश श्रीनाथ लै करि दीनो प्रस्थान ॥ ३१ ॥
जयपुर अरु त्यों जोधपुर बीकानेर नरेस ।
कोटा बूंदी कृष्णागढ़ सबही बीर सुदेस ॥ ३२ ॥
निज नगरन पधराइवे करी बीनती कोट ।
पै सब यवनाधीन हैं उन देख्यो यह खोट ॥ ३३ ॥
उदयपुराधीश्वर तबै पत्री पठई चाहि ।
तामैं यों बिनती लिखी अतिसै प्रेम उमाहि ॥३४॥
नाथ दास के देस मैं आवहु करहु सनाथ ।
मन आवै जिहिं ठौर मै पधरावहु श्रीनाथ ॥ ३५ ॥
दिल्ली नगर नरेश को अहै कहा मगदूर ।
जो लखिहै तुअ ओर तो ह्वै है चकनाचूर ॥ ३६ ॥
हमरो सिर कटि जाय तो आवै तुमरे पास ।
चमकत चपल कृपान ये रिपु मो नित की प्यास॥३७॥
कौन अहै इ सीस को जो ऐहै इत धाय ॥
आप बिराजहु आइकै सेवहु श्रीजदुराय ॥ ३८ ॥
या पत्री कों पाइ श्रीकाका वल्लभदेव ।
अति सै आनन्दित भये समुझि बीरता भेव ॥ ३९ ॥

जान्यो उनकों है नहीं म्लेच्छन के आधीन ।
कोउ ढिग कर जोरिकै काहत बचन नहि दीन ॥ ४० ॥
भुज बल सों पालत प्रजा छत्रिय कुल सिरताज ।
इन सो वीर प्रताप जुत भयो न ह्वै है आज ॥ ४१ ॥
या सों राना राज्य मैं करि दीनों निज धाम ।
पधराये श्रीनाथ हरि पूजत निज जन काम ॥ ४२ ॥
चहुंदिस गिरिवर घेर को थल सुभ लियो निहार ।
पधराये श्रीनाथ जू कीनों श्रीजीद्वार ४३ ॥
जङ्गल में मङ्गल कियो हरि की सेवा ठानि ।
रहि हिन्दू के राज में त्यागी सबै गलानि ॥ ४४ ॥
वृन्दावन सों अधिक छवि धारी श्रीजी द्वार ।
लाखन सेवक आइ जहं ठानत जै जै कार ॥ ४५ ॥
काका बल्लभ के सुअन प्रगटे श्रीगोपाल ।
तिनके श्रीयदुनाथ जू सेवत श्रीनंदलाल ॥ ४६ ॥
श्रीलक्ष्मण आचार्य पुनि तिनके प्रगटे लाल ।
पुत्र द्वारकानाथ पुनि तिनके भक्ति रसाल ॥ ४७ ॥
राम कृष्ण आचार्य पुनि तिन सों प्रगटे आय ।
गोकुल मैं बसि प्रेम सों पूजे श्रीजदुराय ४८ ॥
अतिसै विद्या प्रिय भये कीनो बुध सम्मान ।
शास्त्रन को पालन कियो किये विविधि विधदान ४९

श्रीवल्लभ इन के सुअन वल्लभ देव समान।
वल्लव वल्लभ सेइके माने विबुध सुजान॥ ५०॥
तिनके सुत जग मैं विदित श्रीयुत जीवन लाल।
अजहुं विराजत दान कर दीरघ दीन दयाल॥ ५१॥
अहै सुदामा की पुरी निकट द्वारका धाम।
देस काठिया वार जिहिं पुर बन्दर इ नाम॥ ५२॥
जाके चरनन कों अजौं जल निधि रह्यो पखार।
जाहि जहा जन वृन्द सों लखत पथिक की भार ५३
मन्मथ मोहन रूप तहं कृष्ण विराजत आप।
इन के सुमिरन मात्र तें हरत जनन के पाप॥ ५४॥
श्रीयुत जीवन लाल जू तिनकी सेवा मांहि।
प्रेम मग्न निस दिन रहत बुध सों मिलत उछांहि ५५
के हरि सेवा काज मैं कै विद्या के काज।
समय बितावत प्रेम भरि गोस्वामी महराज॥ ५६॥
जगत मान्य इनके चरन ये मानत विद्वान।
शिष्यन मण्डल जोरि कै उपदेसत हैं ज्ञान॥ ५७॥
धर्म कर्म को मर्म अरु ज्ञान भक्ति को तत्त।
मधुर मधुर उपदेसि ये करत होय जनु मत्त॥ ५८॥
मोह्र पै बहु बरष सों इनकी कृपा सुहाय।
मेरे औगुन गनन इन गुन गन लिये बनाय॥ ५९॥

इन सब कै इच्छा करी चलन सिन्धु पञ्जाब।
मोहू को पत्रौ लिखौ आवन हेतु सिताब ॥ ६० ॥
आचार्यन को संग अरु तापै धर्म प्रचार।
अलभ लाभ मैं जानि यह मान्यौं अति उपकार ॥६१॥
गवरमेण्ट के काज सों छुट्टी लै ततकाल।
आइ बम्बई नगर मैं दरसन किये रसाल ॥ ६२ ॥
चल्यौं सङ्ग ही सङ्ग पुनि सुभग पञ्चनद देस।
उनकी आज्ञा सों किये ठौर ठौर उपदेस ॥ ६३ ॥
क्रम सों आये सिन्धु नद तीरन वारे ठाम।
पूरब पच्छिम तीर के भ्रमन किये बहु ग्राम ॥ ६४ ॥
सभा सबै थल में करी, कही भक्ति जगदीस।
गोस्वामी जू ठौर सब रहे सभा के ईस ॥ ६५ ॥
आज्ञा लहि उनकी कियेः यह अवतार विचार।
जिनके हिय हरि भक्ति है, उनकों यह सुखसार ६६
क्रम सों आये हम सबै शक्कर नगर मझार।
ढिग जाके ह्वैं बहत है सिन्धु नदी की धार ॥ ६७ ॥
सुगम सेतु सोहत जहां बिना खम्भ आधार।
रोढ़ी इक छोटो नगर लसत सिन्धु के पार ॥ ६८ ॥
रोढ़ी मैं करिकै सभा शक्कर मैं पुनि आइ।
करी सभा पुनि वाद कै पर मत दियो हराइ ॥ ६९ ॥

सबै सभा के मांहिं यों मैं कीन्हे व्याख्यान ।
गोस्वामी जू कों लखत राजी भये सुजान ॥ ७० ॥
मार्गशीर्ष सित पच्छ है त्रयोदसी दिन आज ।
प्रगट भये हैं याहि दिन गोस्वामी महराज ॥ ७१ ॥
श्रीयुत जीवन लाल को जनम गांठि दिन पाय ।
जय जय कहि सेवक परे दरसन के हित धाय॥७२॥
श्रीगोवर्धन नाथ को उत्सव परम सोहात ।
लहि प्रसाद मांते सबै वैष्णव जूह लखात ॥ ७३ ॥
भेट देत बहु भांति कौ सबै चरन ढिग आइ ।
विप्र पढत आसीस पुनि बहु विधि मन्त्र सुनाइ॥७४॥
मैं तो याही ग्रन्थ की भेट करत हूं आज ।
जीवन को जीवन करहु जीवन जू महराज ॥ ७५ ॥
रहनि सहनि समझनि कहनि गहनि लहनि पुनि चाल।
को समझै जग मैं बिना वल्लभ कुल के बाल ॥ ७६ ॥
जौ लौं सूरज चन्द अरु भूतल बिमल अकास ।
तौ लौं वल्लभ कुल सुजस जग मैं करो प्रकास ७७
वल्लभ कुल दरबार मैं आसन पावत जोइ ।
गोस्वामी कर कमल सों बीरो पावत सोइ ॥ ७८ ॥
बालकृष्ण महराज जिहिं काशी नगर मझार ।
पदवी भारत रत्न की दई विदित संसार ॥ ७९ ॥

हरीचन्द से सुकविजिहिं सुकवि कह्यो सुखदानि।
पद्घटिकाशत को दियो, कासी के बुधग्यानि॥ ८० ॥
कासीपति, अवधेस, अरु त्यों मिथला के ईस।
भूपबनैली, श्रीनगरनाथ, गिधौराधीस॥ ८१ ॥
गुनगाहक ये भूपवर सदा करत जिहिं मान।
जो पुनि इनके सुजस को सदा करत है गान॥ ८२ ॥
सुकवि अम्बिकादत्त सो काशीवासी विप्र।
या अवतार विचार पै लेख लिख्यो कछु छिप्र॥ ८३ ॥
जीवन जू महराज की करिकै जैजैकार।
उन ही के कर कमल मैं अरपत है सुखसार॥ ८४ ॥
गोस्वामी रनछोड़ जू जीयहु इनके लाल।
कृष्णप्रेमरससों करहु भारत भूमि रसाल॥ ८५ ॥
कृष्ण सदा हिय मैं रहैं यह दीजै आसीष।
गोस्वामी कुल सों यहै माँगत हौं इक भीष॥ ८६ ॥
ससि सरनिधि धरनी बरस १९५१ बन्यो ग्रन्थ सुखरास।
रससर अङ्क मृगाङ्क मैं १९५६ लह्यो आजु परकास॥ ८७ ॥



श्री पण्डित अम्बिकादत्त व्यास

(संवत् १९५३ के उतरे फोटो से)

श्रीगणेशायनमः।



॥ भक्त्या त्वनन्यया लभ्यो हरिरन्यद् विडम्बनम् ॥

॥ अवतारमीमांसा ॥

अतिशय आश्चर्य्य का विषय है कि जिस भारतवर्ष से यूरप अमेरिका आदि दूर दूर देशों के रहने वाले विद्वान् लोग सहस्रों वर्ष से अध्यात्मविद्या सीख रहे हैं और अन्त न पाया और जिस भारत के आर्ष ग्रन्थों को सहस्रों बुद्धिमान् भिन्न भिन्न भाषाओं में अनुवाद कर रहे हैं परन्तु दर्शन शास्त्रों के साङ्केतिक शब्दों के अनुवाद के लिये प्रतिरूप न पाने से न्यायादि शास्त्रों के अनुवाद में असमर्थ हैं उसी भारत वर्ष में आज एक ऐसा विचित्र समय

उपस्थित हुआ है कि जातिभेद, आश्रमभेद, मूर्त्तिपूजा,' अवतार' श्राद्ध' तीर्थयात्रा' आदि सभी प्रसिद्ध प्रसिद्ध भारतवासियों के रात दिन के अनुष्ठेय विषयों में भी नाना प्रकार की शङ्काओं का प्रादुर्भाव हो चला है ॥

उन नाना विषयों में से यह केवल अवतार के विषय पर कुछ व्याख्यान किया जाता है । हमारे देशीय कई एक ऐसे भी नवयुवकों के दल हैं जो वस्तुतस्तु अपना भी अनाचार से पूरित म्लेच्छसदृश ही मत रखते हैं परन्तु जब कुछ कहने सुनने खड़े होते हैं तब कभी कुरान का खण्डन करते हैं और कभी बाइबल का और समझते हैं कि यह बड़ा पुरुषार्थ किया । पर यदि वे इस खण्डन मण्डन से मुसलमानों और क्रिश्चनों को उन के मतों से विश्वास हटा हिन्दू बनाना चाहते हैं तब तो यह सर्वथा अशास्त्र है और विद्वान् से मूर्ख तक हिन्दूमात्र का असम्मत है ॥ और यदि यह तात्पर्य्य न हो तो झूठी दांत खटाखट व्यर्थ है । हां यह तात्पर्य्य हो सकता है कि म्लेच्छमतखण्डन हमारे देशीय लोगों को अच्छा लगेगा तो उसी के मध्य २ में पौ-

रागिक सिद्धान्तों का भी खण्डन कर ममानभिज्ञ लोगों को भरमावें यही बात सच भी है और कुछ भी है तथा व्यर्थ हिन्दू मुसलमान तथा क्रिश्चनों के कलहों का मूल है इसलिये हमें इस व्याख्यान में विदेशीय विमतावलम्बियों से कुछ भी श्वेत कृष्ण नहीं कहना है हमारा यह कथन उनके लिये है जो भगवत्प्रेम से परिपूर्ण हैं और अवतार के विषय में कुछ निरूपण सुनना चाहते हैं अथवा नवयुवक नास्तिकाभासों के कुछ प्रश्न सुन आये हैं और उन की मीमांसा चाहते हैं॥

साधारणतः अवतार विषय में ये प्रश्न होते हैं। क्रमशः इनों की विवेचना से हमारा उद्देश्य साधन होगा॥

(प्रश्न १) सर्वशक्तिमान् ईश्वर को अवतार लेने की क्या आवश्यकता है कि उसने अवतार लिया ?

(प्रश्न २) सर्वव्यापक का अल्पपरिमाण से परिच्छिन्न होना कैसे सम्भव है ?

(प्रश्न ३) अलौकिकलीलाविशिष्ट परमेश्वर को मानवलीला शोभित नहीं॥

(प्रश्न ४) परमेश्वर अवतार लें तो मानवरूप तक तो कुछ शोभित भी होता है पर तिर्यग् योनि में क्यों अवतार लेते हैं ?

(प्रश्न ५) अवतारों मे जीव से अधिक प्रताप क्या है ?

(प्रश्न ६) पूर्णावतार और अंशावतारों में क्या भेद है ?

(प्रश्न ७) अवतारों के शरीर पाञ्चभौतिक हैं अथवा अलौकिक ?

(प्रश्न ८) ईश्वर अवतार लेते हैं इस में प्रमाण क्या ?

विवेचना ।

(१) प्रथम प्रश्न यह है कि "ईश्वर को अवतार लेने की क्या आवश्यकता है" ?

ठीक है* संशय यह है कि ईश्वर को अवतार लेने की आवश्यकता है कि नहीं ॥ इस पर यही पूर्वपक्ष सिद्ध होता है कि ईश्वर सर्वथा पूर्णकाम हैं और सर्वशक्तिमान् हैं और इस कारण उन को कोई प्रयोजन ही नहीं है तब निष्प्रयोजनप्रवृत्ति तो एक मन्द पुरुष की भी नहीं होती जैसे आभाणक प्रसिद्ध है कि "प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्त्तते" (विना प्रयोजन मन्द पुरुष भी किसी काम में प्रवृत्त

नहीं होता) और सर्व शक्तिमत्ता के कारण से इच्छामात्रद्वारा उनको कुछ अशक्य नहीं है तो अवतार अनावश्यक है क्योंकि दूसरी भी लोकोक्ति प्रसिद्ध है "अर्के चेन्मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत्" (घर के कोने ही में मधु मिले तो पर्वत पर जाने की क्या आवश्यकता है) अतएव ईश्वर को अवतार की आवश्यकता भी नहीं और उनका अवतार बतलाना भी मिथ्या है॥

(समीक्षा और उत्तर)

इस प्रश्न ही से विदित होता है कि प्रश्नकर्त्ता ईश्वर का होना तो स्वीकार करते हैं परन्तु केवल उनके अवतार में शङ्का है। यदि ऐसा है तो अवश्य ही ईश्वर को सृष्टिकर्त्ता और जगन्नियन्ता माना है क्योंकि येही गुण तो ईश्वरसत्ता के साधक हैं और यदि ईश्वरभिन्न ही कोई कर्त्ता और नियन्ता हो तो फिर ईश्वर का मानना व्यर्थ है॥ और प्रश्न-कर्त्ता ने प्रश्न ही में सर्वशक्तिमान् पद दिया है यह अवश्य ही सर्जननियमनादिशक्ति के तात्पर्य्य से कहा है सो सृष्टिकर्तृत्व उनने स्वीकृत है उसमें वाद ही नहीं है॥

अब यह देखना है कि सर्वथा पूर्णकाम सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मा का क्या अटका था कि उन ने सृष्टि रची और किस आवश्यकता के पराधीन हो उन ने इतना जाल रच इसके नियमन का भार अपने सिर लिया॥ इस प्रकरण में जितने सेश्वरवादी हैं सब आवश्यकता बतलाने के लिये चुप हैं और यदि बोलते हैं तो सब मिल के एक ही उत्तर देते हैं कि यह भगवल्लीला है॥ देखिये सर्वप्रमाणशिरोभूत उपनिषद् में रमणेच्छा अर्थात् लीला ही कही है॥ बृहदारण्यक चतुर्थ ब्राह्मण श्रुति ३ "सवै नैव रेमे तस्मादेकाकी न रमते स द्वितीयमैच्छत्" [वह रमण नहीं करते थे, अकेले रमण न किया द्वितीय को चाहा] तो जिस पूर्णकाम षड़ैश्वर्य्यसम्पन्न जगदीश्वर ने कोटि २ ब्रह्माण्डों की रचना केवल लीला के लिये कर डाली है उसने यदि उस लीला मात्र के लिये अवतार भी धारण किये हों तो क्या असम्भव है। अतएव पूर्वाचार्य्य भी यही अवतार का कारण स्थिर करते आये हैं जैसे श्रीमद्भागवत में गर्भस्तुति में देवताओं ने कहा है॥ "स्कन्ध १० अ० २ श्लो० ३९ "न ते भवस्येश भवस्य

कारणं विना विनोदं वत तर्कयामहे" (आपके प्रादुर्भाव का कारण हम लोग विनोद छोड़ कुछ नहीं सोच सकते) और "क्रीडनेनेह देहभाक्" (क्रीडा के लिये देह धारी हुए) स्क० १० अ० ४० अक्रूर कृतस्तुति श्लो० १६ "यानि यानीह रूपाणि क्रीडनार्थं बिभर्षि हि" (आप जो जो रूप क्रीड़ा के लिये धारण करते हैं) और विष्णुपुराण में भी स्पष्ट कहा है जैसे विष्णुपुराण, अंश ५, अध्याय २२ श्लो० १४-१८

"मनुष्यधर्मशीलस्य लीला सा जगतः पतेः।
अस्त्राण्यनेकरूपाणि यदरातिषु मुञ्चति॥
मनसैव जगत् सृष्टिं संहारञ्च करोति यः।
तस्यारिपक्षक्षपणे कोऽयमुद्यमविस्तरः॥
तथापि यो मनुष्याणां धर्मस्तमनुवर्त्तते।
कुर्वन् बलवता सन्धिं हीनैर्युद्धं करोत्यसौ॥
सामचोपप्रदानञ्च तथा भेदं प्रदर्शयन्।
करोति दण्डपातञ्च क्वचिदेव पलायनम्॥
मनुष्यदेहिनां चेष्टामित्येव मनुवर्त्ततः।
लीला जगत्पतेस्तस्य छन्दतः संप्रवर्त्तते॥

[मनुष्यधर्म के अनुकरण करने वाले भगवान् की

यह लीला है कि शत्रुओं पर भांति २ के शस्त्र फेंकते हैं॥ जो मन ही से सृष्टिसंहार करते हैं उन को शत्रुदलसंहार के लिये बखेड़ा क्या तो भी जो मनुष्यधर्म के अनुसार हैं वे बलवान से मेल और अल्पबल से युद्ध करते हैं। सामदानभेददण्ड करते कभी रण से पीठ भी दिखलाते हैं॥ मनुष्यों की रीति के अनुकरण वाले भगवान् की यह केवल लीला ही है]

यों अवतारों में लीलामूलकत्व रहते भी अवतारों के प्रायः तीन उद्देश्य और देख पड़ते हैं [१] दुष्टों के दमन पूर्वक सत्पुरुषों की रक्षा, तथा [२] धर्म की रक्षापूर्वक जगत का मङ्गल और [३] सगुणलीला द्वारा उस समय के प्रत्यक्ष उपासक तथा भविष्यत् काल के उपासकों का सौकर्य्यसाधन॥

प्रथम उद्देश्य में प्रमाण-गीता अ० ४ श्लो० ८ "परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्" श्री भा० स्कं० ८ श्लो० ५ अ० २४ गोविप्रसुरसाधूनां छन्दसामपि चेश्वरः॥ रक्षामिच्छंस्तनूर्धत्ते धर्मस्यार्थस्य चैव हि। श्री भा० स्कं० १० अ० २ "विभर्षि रूप-पाण्यवबोध आत्मा क्षेमाय लोकस्य चराचरस्य॥ स-

त्वोपपन्नानि सुखावहानि सतामभद्राणि मुहुः खला-
नाम् ॥ अ० १४ "सुरेष्वृषिष्वीश तथैव नृष्वपि ति-
र्य्यक्षु यादस्स्वपि तेऽजनस्य ॥ जन्मासतां दुर्मदनिग्र-
हाय प्रभो विधातः सदनुग्रहाय च" १० [इन सब
वचनों का यही तात्पर्य है कि दुष्टों का दमन और
सत्पुरुषों की रक्षा के लिये प्रभु का अवतार है]

दूसरे उद्देश्य में प्रमाण; गीता अ० ४ श्लोक० ८
"धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे"। अ० ४ श्लो० ७
अभ्युत्थानमधर्म्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्" ॥ श्री-
मद्भागवत के प्रथमोद्देश्यसाधक प्रमाणों के भाग
'धर्म्मस्यार्थस्य चैव हि' 'क्षेमाय लोकस्य चराचरस्य'
भा० स्कन्ध १० अ० २१ श्लो० २ "विखनसाऽर्थितो
विश्वगुप्तये" ॥ अ० २ मत्स्याश्वकच्छपवराहनृसिंहहं-
सराजन्यविप्रविबुधेषु कृतावतारः। त्वं पासि नस्त्रिभु-
वनं च यथाधुनेश भारं भुवो हर यदूत्तम वन्दनं ते"॥
(इन सब वचनों से यह स्पष्ट झलकता है कि धर्म
की रक्षापूर्वक जगत् का मङ्गल अवतार का उद्देश्य
है) अ० २ "त्वमस्य लोकस्य विभो रिरक्षिषुर्गृहेऽव-
तीर्णोऽसि ममाखिलेश्वर" तीसरे उद्देश्य का साधक
प्रमाण यह है श्री भा० स्कं० १० अध्याय १४ श्लो०

३२-३३-३७ " अहो भाग्यमहो भाग्यं नन्दगोपव्रजौकसाम् ॥ यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णब्रह्म सनातनम् ॥ एषां तु भाग्यमहिमाच्युत तावदास्तामेकादशैव हि वयं बत भूरिभागाः ॥ एतद्धृषीकचषकैरसकृत् पिबामः शर्वादयोऽङ्घ्र्युदजमध्वमृतासवं ते" ॥ तथा "प्रपञ्चं निष्प्रपञ्चोऽपि विडम्बयसि भूतले ॥ प्रपन्नजनतानन्दसन्दोहं प्रथितुं प्रभो" ॥ इन सब वचनों से जीवों का उद्धार करना अवतार का उद्देश्य प्रगट होता है यों अवतार के समकाल जीवों के उद्धार में तो समस्त अवतार चरित ही प्रमाण हैं ॥

सगुणावतारद्वारा विभिन्नकालीन उपासकों की उद्धार तथा उपासनसौकर्य्य मे प्रमाण । श्री भा० स्कं० १० अ० २ "सत्वं विशुद्धं श्रयते भवान् स्थितौ शरीरिणां श्रेयउपायनं वपुः ॥ वेदक्रियायोगतपःसमाधिभिस्तवार्हणं येन जनः समीहते ॥ ३४ "सत्वं न चेद्धातरिदं निजं भवेद् विज्ञानमज्ञानभिदापमार्जनम् ॥ गुणप्रकाशैरनुमीयते भवान् प्रकाशते यस्य च येन वा गुणः ॥ ३५ ॥ "न नामरूपे गुणजन्मकर्मभिर्निरूपितव्ये तव तस्य साक्षिणः ॥ मनोवचोभ्याम नुमेयवर्त्मनो देव क्रियायां प्रतियन्त्यथापि हि" ॥

शृण्वन् गृणन् संस्मरयंश्च चिन्तयन्नामानि रूपाणि च मङ्गलानि ते ।। क्रियासु यस्त्वच्चरणारविन्दयोराविष्ट-चित्तो न भवाय कल्पते" ।।३७।।भगवद्गीता अ० ४ श्लो० ९ "जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेद तत्त्वतः ।। त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन,, ।। इन सब वचनों का निष्कर्ष यह है कि भगवान् के नाम रूप चरित में चित्त लगाने से सद्गति होती है अ-र्थात् प्रलय पर्य्यन्त कोई भी जीव भगवदवतार के चरितादि में अनुरक्त हो तो उसका उद्धार होता है।

इस विषय में बहुत प्रमाण देना अनावश्यक है।। क्योंकि अद्यापि नवधा भक्ति के आश्रय स्वरूप अव-तार ही हैं और कृष्णजयन्ती वामनजयन्ती आदि प्रायः यावद् व्रत भी अवताराश्रित ही हैं तथा अयो-ध्यामथुरादि तीर्थ भी अवताराश्रित ही हैं एतावता अवतार समानकाल तथा असमान काल के कोटिन जीवों के उद्धार के मूल भूत हैं यह सिद्ध हुआ ।।

कहीं कहीं कोई अवतार केवल भक्तों की प्रार्थना-नुसार उन के अभिलाषपूरणार्थ ही होते हैं जैसे कच्छावतार ।।

कुन्ती ने भी प्रभु के अवतार के विषय में आशंका

कार श्रीकृष्णावतार के कारण अनेक कहे हैं जैसे भा० स्क० १ अ० ८ श्लो० ३१×३३×३४×३५×३६ "केचिदाहुरजं जातं पुण्यश्लोकस्य कीर्त्तये। यदोः प्रियस्यान्ववाये मलयस्येव चन्दनम् ॥ अपरे वसुदेवस्य देवक्यां याचितोऽभ्यगात्। अजस्त्वमस्य क्षेमाय वधाय च सुरद्विषाम् ॥ भारावतरणायान्ये भुवो नाव इवोदधौ। सीदन्त्योभूरिभारेण जातो ह्यात्मभुवार्थितः ॥ भवेऽस्मिन् क्लिश्यमानानामविद्याकामकर्म्मभिः। श्रवणस्मरणार्हाणि करिष्यन्निति केचन ॥ शृण्वन्ति गायन्ति गृणन्त्यभीक्ष्णशः स्मरन्ति नन्दति तवेहितं जनाः ॥ त एवपश्यन्त्यचिरेण तावकं भवप्रवाहोपरमं पदाम्बुजम्" ॥ इत्यादि ॥

प्रश्न द्वितीय

(२) सर्वव्यापक का अल्पपरिमाण मे परिच्छिन्न होना कैसे सम्भव है।

(ठीक है) अवतार विषय में यह संशय होता है कि यदि परमात्मा का रामकृष्णादि रूप से अवतीर्ण होना माना जाय और इन्हें अंशकलादि स्वरूप न कहके पूर्णावतार कहा जाय तो यह सर्वव्यापक का रामकृष्णस्वरूपावच्छेदक परिमाण में अवच्छिन्न होना सम्भव है कि नहीं। इस संशय के

अनंतर यही पूर्णपक्ष होता है कि सम्भव नहीं। क्योंकि बृहत् अर्थात् व्यापक परिमाण का स्वभाव ही ऐसा है कि परिमाणान्तर में उसका परिवर्त्तन हो ही नहीं सक्ता। जैसे आकाश का। और जब यह असम्भव है तो सर्वव्यापक सच्चिदानन्द पूर्णब्रह्म पुरुषोत्तम का अवतार लेना कैसे सम्भव है?

(समीक्षा और उत्तर)

ऐसे संशय पर परमात्मा के विषय में भी ऐसा पूर्वपक्ष करना बहुत ही आश्चर्य्य है॥ जब उदाहरण-स्वरूप आकाश से पञ्च भूत की उत्पत्ति नहीं और भगवान सर्वसृष्टि कर्त्ता सर्वशक्तिमान् है और मन वाणी से अगोचर हैं (भा० स्क० १० अ० १४ श्लो० ३८ "जानन्त एव जानन्तु किं बहूक्त्या न मे प्रभो। मनसो वपुसो वाचो वैभवं तव गोचरः"॥ और "यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" इत्यादि श्रुति भी प्रसिद्ध हैं) तब उन पूर्ण पुरुषोत्तम के विषय में यह प्रश्न कैसे हो सक्ता है॥ और यों तो आकाशकाल आदि में व्यापकत्वसहचरित चेतनत्वाभाव देख के कदाचित् ईश्वर में चेतनत्वाभाव का भी अनुमान कोई कर डाले॥ परन्तु यह सब

निरर्थ है । क्योंकि जब परमात्मा सर्वशक्तिमान और जगद्विलक्षण हैं तो आकाशादि पदार्थ का ऐसा उन का स्वभाव नहीं समझा जासक्ता ॥ वस्तुतस्तु सर्वव्यापक सच्चिदानन्द परमात्मा कहीं अपने दिव्य आकार को प्रगट कर देते हैं ॥ आप सर्वव्यापक ही रहते हैं और एक देश में आकार रहता है इस में बाधक क्या है ?

अवतार रूप में प्रधान आकार एक देश में रहते भी भगवान नें अन्यत्र अपने अनेक रूप दिखलाये हैं जैसे अक्रूर को जल में दिव्य रूप दिखलाया (भा० स्कं० १० अ० ३९) गोपियों को रासलीला में अनेक रूप दिखलाये (भा० स्कं० १० अ० ३३ श्लो० ३ और २०) और ब्रह्मा को नाना प्रकार के भिन्न भिन्न आकार तथा रूप दिखलाये (भा० स्कं० १० अ० १३) फलितार्थ यह हुआ कि आकार मात्र अवच्छिन्न होते हैं कुछ ब्रह्म का अवच्छिन्नत्व नहीं होता किन्तु परब्रह्म परमात्मा सर्वव्यापक ही हैं। कभी एक स्थान में एक दिव्याकार प्रगट करते हैं कभी अनेक दिव्य आकार प्रगट करते हैं कभी उस दिव्याकार को भी अन्तर्हित करते हैं (भा० स्कं०

१० अ० ३० "अन्तर्हिते भगवति सहसैव ब्रजाङ्गनाः अतप्यंस्तमचक्षाणाः करिण्य इव यूथपम्)। और कभी फिर प्रगट करते हैं (भा० स्क० १० अ० ३२ "तासामाविरभूच्छौरिः स्मयमानमुखाम्बुजः। पीताम्बरधरः स्रग्वी साक्षान्मन्मथमन्मथः)॥

और "नमो ह्रस्वाय च वामनाय च नमो बृहते च वर्षीयसे च"॥ यजु संहिता० अध्याय० १६ मन्त्र ३० इत्यादि प्रमाणों से जब कि परमात्मा में ह्रस्वत्व भी सिद्ध ही है तो विवाद क्या ? क्योंकि यही तो भगवान् का वैलक्षण्य है कि उन में व्यापकत्व रहा और एक देशवृत्तित्व भी रहै ॥ प्रभु के ऐसे ही विरुद्धधर्माश्रयत्व की गमक "अणोरणीयान्महतो महीयान्" इत्यादि अनेक श्रुति हैं ॥

प्रश्न तृतीय—

(३) अलौकिकलीलाविशिष्ट परमेश्वर को मानवलीला शोभित नहीं।

(प्रश्न का फलितार्थ यह है कि अवतारों में रोना भागना आदि मानवलीला हैं और अलौकिकलीलाविशिष्ट जगदीश्वरमें यह सम्भव नहीं इसलिये परमेश्वर का अवतार नहीं हैं)

(ठीक है अवतार में यह पूर्वोक्त संदेह होता है और यह पूर्वपक्ष स्थिर होता है कि ये रामकृष्णादि मानवलीलामय हैं और मानवलीला परमेश्वर को सजती नहीं इस कारण ये ईश्वरावतार नहीं है)

(समीक्षा और उत्तर)

१ परमेश्वर को मानवलीला का अशोभित होना ही इस प्रश्न का तथा संशय का मूल है। सो पहले इसका तो निर्णय किया जाय कि परमेश्वर को कौन सी लीला सजती है और कौन सी नहीं॥ परमेश्वर के लिये यह कौन सी भली बात है कि बार बार सृष्टि करें और बारबार प्रलय करें। पूर्णकाम के लिये सृष्टि लीला ही किस युक्ति से सजती है? और सृष्टि लीला सजी तो लीलान्तर्गत दूसरी अवतारलीला क्यों नहीं सजती? एतावता यह सिद्ध हुआ कि जब परमात्मा लीला ही करने लगे तो उनको सब लीला ही सजती हैं और इस लिये मानवलीला ईश्वर के अवतार के विरोध में नहीं है॥

२ जो सर्वशक्तिमान् है उस को मानवलीला धारण की भी शक्ति है और इस कारण भगवान्

क्रीडार्थ उसी शक्ति का उदय करें तो आश्चर्य्य क्या है ?

३ और प्रभु का यह स्वभाव ही है कि जो सच्चे प्रेम से जैसी उपासना करे उन के लिये वैसाही रूप धारण करके उनका उद्धार करें यथा श्रु० "यथायथोपासते तदेव भवति तद्धेनाऽभूत्वावति गी० "ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्" ॥ इत्यादि तो जिन नन्द यशोदा वसुदेव देवकी आदि नें तप कर यही वर मांगा था कि आप हमारे पुत्र हों सो तदनुसार आप को मानवरूप लेना पड़ा है और उस स्वरूपादि की प्रकृति के अनुसार और और लीला भी हैं ॥

इसी ठिकाने यह भी समझने की बात है कि अवतार लीला के प्रयोजक तीन हैं प्रार्थना १ प्रकृति २ और इच्छा ।

प्रार्थनानुसार ॥ जैसे नन्दादि की प्रार्थना के अनुसार आपने अवतारग्रहण किया । और गोपी आदि की जन्म जन्मान्तर की प्रार्थनानुसार अनेक लीला की ॥ और ऋतुग्रामादि की प्रकृति के अनुसार भी विविध लीला की तथा केवल जगत् के उद्धार की

इच्छा से भी विविध लीला को अर्थात् कोई लीला भक्तों की प्रार्थनानुसार और कोई केवल अपनी प्रकृत्यनुसार होती हैं। जिस समय चारों ओर जल ही जल भरा है वह प्रकृति किरीटकुण्डलादि से शोभित रूप नहीं चाहती किन्तु मत्स्य रूप ही उस के अनुकूल है जब जल में निमग्न मन्दर को धारण करना है तब कठिनपृष्टवाला कमठावतार प्रकृत्यनुसार है कीचड़ में घुस के पृथ्वी निकालने के लिये शूकरावतार ही प्रकृत्यनुकूल हैं ऐसे प्रकृति आदि के अनुसार प्रभु को पशुलीला पर्य्यन्त शोभित होती है फिर मानव लीला में क्या सन्देह ? यह भी जान रखने की बात है कि भगवदवतार लीला लौकिका लौकिक भाव से भरी होती हैं। अलौकिक भाव अद्भुत रस से भरा होता है और अलौकिकभाव के प्रगट होने से देखने सुनने वालों के हृदय में अवतार स्वरूप का साक्षात् ईश्वर होना जम जाता है। फिर जब भगवान् लौकिक लीला का प्रादुर्भाव करते हैं तब कुछ ईश्वरभाव की प्रभा रहते लौकिक भाव मिलने से एक अपूर्व माधुर्य्य होता है। उलूखलबन्धन मुख में त्रिलोकीदर्शन आदि का आनन्द

वेही लोग जानते हैं जो अधिकारी हैं। इन लीलाओं का माधुर्य्य लोकोपकारार्थ होजाता है। क्योंकि सुनते कहते लोग तरते हैं भा० स्कं० १० अ० २ श्लो० ३७ "शृणवन् गृणन् संस्मरयंश्च चिन्तयन् नामानि रूपाणि च मंगलानि ते। क्रियासु यस्त्वच्चरणारविन्दयोराविष्टचित्तो न भवाय कल्पते" ॥ और इस से निर्लेप सच्चिदानन्द की कोई हानि नहीं है भा० स्कं० ८ अ० २४ श्लो० ६ "उच्चावचेषु भूतेषु चरन् वायुरिवेश्वरः। नोच्चावचत्वं भजते निर्गुणत्वाद्धि यो गुणैः" इस रीति से भी अधिक माधुर्य्यसम्पादक मानवलीला परमेश्वर को सदा शोभित है ॥

चतुर्थ प्रश्न यह है कि—

(४) परमेश्वर अवतार लें तो मानवरूप लक्ष तो कुछ शोभित भी होता है परन्तु तिर्य्यग्योनि में क्यों अवतार लेते हैं?

यह प्रश्न मानवरूप में तो भगवदवतार मानता है पर तिर्य्यग्योनि ही के अवतारों पर आपत्ति है परन्तु इसका उत्तर तृतीय प्रश्न के उत्तर में गतार्थ है॥

पञ्चम प्रश्न यह है कि—

(५) अवतारों में जीव से अधिक प्रताप क्या है?

(ठीक है रामकृष्णादि अवतारों को देख सन्देह हो सक्ता है कि इन में अपर जीवों से वैलक्षण्य है कि नहीं ? और साथ ही पूर्वपक्ष भी होता है कि जीववैलक्षण्य कुछ भी नहीं है क्योंकि जैसे द्रोण, कृप, भीष्म, अर्जुनादि बाणविद्या में दक्ष थे वैसेही कदाचित् श्रीरामचन्द्र हों और जैसे जरासंधादि एक से एक वीर थे वैसेही श्रीकृष्णचन्द्र थे प्रत्युत इन से भी प्रबल जरासन्ध थे क्योंकि इनको जरासन्ध से भागना पड़ा था। तो जब जीव से विलक्षणता रामकृष्णादि में नहीं है तो उनमें अवतारत्व मानना व्यर्थ है और यों ही यावत् अवतार में जीवत्व सिद्ध होने से परमेश्वर का अवतार न लेना ही सिद्ध होता है)

(समीक्षा और उत्तर)

१ यदि विचार के देखें तो जीवों से बहुत ही वैलक्षण्य अवतारों में है। पहले तो प्राकट्य के समय ही से अद्भुत रस उमग उठता है। जैसे श्रीकृष्णचन्द्र नें जन्मसमय ही में किरीटकुण्डलादि से भूषित चतुर्भुजी मूर्त्ति दिखलायी भा० स्क० १० अ० ३ "तमद्भुतं बालकमम्बुजेक्षणं चतुर्भुजं शङ्ख-

गदाम्बुजायुधम्। श्रीवत्सलक्ष्मं गलशोभिकौस्तुभं पीताम्बरं सान्द्रपयोदसौभगम्॥ महार्हवैदूर्य्यकिरीटकुण्डलत्विषा परिष्वक्तसहस्रकुन्तलम्। उद्दामकाञ्च्यङ्गदकङ्कणादिभिर्विरोचमानं वसुदेव ऐक्षत" इत्यादि। और फिर प्रायः ऐसा कोई भी औतार नहीं है जिसको आदि से अन्त तक सब लीलाओं में अद्भुत लीला न हों। जैसे मत्स्य का बढ़ना, कच्छ का मन्दर धारण, वाराह का पृथ्वी का उद्धार, नृसिंह का स्तम्भ से प्राकट्य, बामन का बढ़ना इत्यादि। और श्रीकृष्णावतार तो अद्भुत लीलाओं का निधान ही है॥

२ और दूसरे चित्ताकर्षणरूप माधुर्य की पराकाष्ठा अवतारों में परम विलक्षण हैं। यह बात जीवों में होही नहीं सक्ती कि जहां खड़े हों वहां के तिर्यक् पर्य्यन्त चेतन तथा जड़ लतावृक्षाङ्कुरादि परवश से हो स्थगित हो जांय और साक्षात् होते ही सब की अन्तःकरणतद्रूप होजांय। यह अपूर्व माधुर्य और वशीकरण आकर्षण केवल प्रभु हो में है जैसे श्री भा० स्क० १० अ० २१ "गा गोपकैरनुवनं नयतो रुदारवेणुस्वनैः कलपदैस्तनुभृत्सु सख्यः। अ-

स्यन्दनं गतिमतां पुलकस्तरूणां निर्योगपाशकृतलक्षणयोर्विचित्रम् ॥ १८ ॥ गोप्यः किमाचरदयं कुशलं स्म वेणुर्दामोदराधरसुधामपि गोपिकानाम्। भुङ्क्ते स्वयं यदवशिष्टरसं ह्रदिन्या हृष्यत्त्वचोऽश्रु मुमुचुस्तरवो यथार्याः ॥ ९ ॥ वृन्दावनं सखि भुवो वितनोति कीर्त्तिं यद्देवकीसुतपदाम्बुजलब्धलक्ष्मि। गोविन्दवेणुमनुमत्तमयूरनृत्यं प्रेक्ष्याद्रिसान्वपरतान्यसमस्तसत्वम् ॥ १० ॥ धन्याःस्म मूढमतयोऽपि हरिण्य एता या नन्दनन्दनमुपात्तविचित्रवेषम्। आकर्ण्य वेणुरणितं सहकृष्णसाराः पूजां दधुर्विरचितां प्रणयावलोकैः ॥ ११ ॥ कृष्णं निरीक्ष्य वनितोत्सवरूपशीलं श्रुत्वा च तत्क्वणितवेणुविचित्रगीतम्। देव्यो विमानगतयः स्मरनुन्नसारा भ्रश्यत्प्रसूनकबरा मुमुहुर्विनीव्यः ॥ १२ ॥ गावश्च कृष्णमुखनिर्गतवेणुगीतपीयूषमुत्तभितकर्णपुटैः पिबन्त्यः। शावाः स्नुतस्तनपयःकवलाः स्म तस्थुर्गोविन्दमात्मनि दृशाश्रुकलाः स्पृशन्त्य ॥१३॥ प्रायो बताम्ब विहगा मुनयो वनेऽस्मिन् कृष्णेक्षितं तदुदितं कलवेणुगीतम्। आरुह्य ये द्रुमभुजान् रुचिरप्रवालान् शृण्वन्त्यमीलितदृशो विगतान्यवाचः" ॥१४॥ इत्यादि ॥ यों ही वाल्मीकि आदि के भी नाना प्रमाण हैं ॥

और परमात्मा आनन्दमय है और आनन्द परम चित्ताकर्षक है यह लोक सिद्ध शास्त्र सिद्ध तथा वेद सिद्ध है जैसे। "आनन्द ब्रह्मणो विद्वान्" "तस्यैवानन्दस्य सर्वाणि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति" "आनन्दमयोऽभ्यासात्" ॥ इत्यादि ॥ सो परम चित्ताकर्षकत्वरूपवैलक्षण्य तो अवतारों में है ही ॥

छठां प्रश्न यह है कि—

६ पूर्णावतार और अंशावतारों में क्या भेद है ॥

(ठीक है यह संशय होता है कि कोई तो अंशावतार कहलाते हैं और कोई पूर्णावतार सो इन दोनों में कुछ भेद है कि नहीं! यदि कहो कि भेद नहीं हैं तब तो ।। "एते चांशकलाः पुंसः"। इत्यादि भेदबोधक पौराणिक वचन कलाप की सङ्गति कैसे? और यदि भेद बताओ तो यही कहोगे कि कोई पूर्ण ब्रम्ह हैं ॥ और कोई ऐसे हैं जिन में ब्रह्म का एक अंश आया है तब जो अंश स्वरूप उन में एक तो जीव साम्य का दोष आवेगा। क्योंकि जीव भी परमात्मा के अंशही हैं जैसे गीता में लिखा है कि ॥ "ममैवांशोजीवलोके जीवभूतः सनातनः"। वेदान्तसूत्र ॥ "अंशो नानाव्यपदेशात्" ॥ इत्यादि ॥

और यदि जीव को परमाणुरूप अंशस्वरूप मानें और अवतार को उन से बड़े अंश मानें तो भी ईश्वरत्व तो न भया क्योंकि बड़े अंश होने से बड़े जीव भये और मध्यम परिमाण होने से भङ्गुर भी हुए इस कारण जीव से भी छोटे महात्म्य वाले हुए ॥ क्योंकि जो न परमाणु है न व्यापक वह नश्वर होता है ॥

और यदि कहो कि जीव तो इच्छा मात्र से स्वांश होने पर भी भिन्न उत्पन्न भये पर अवतार ब्रह्म के खण्ड स्वरूप हैं तबतो दूसरा दोष यह आवेगा कि अवतार में भी खण्डन होने से व्यापकता न आई किन्तु अवच्छिन्नताही आई और बचे ब्रह्म के भी खण्डन निकल जाने से उस की व्यापकता नष्ट हुई। इस संशय पर यही पूर्वपक्ष होता है कि परमात्मा का पूर्णावतार कथमपि हो तो भी अंशावतार तो नहीं होता ॥

(समीक्षा और उत्तर)

वस्तु तस्तु ब्रह्मता की दृष्टि से तो सभी पूर्णावतार हैं परन्तु जो अवतार एकही उद्देश्य से हुआ और एकही अथवा थोड़े ही उद्देश्यों का साधन कर तिरोहित हुआ वह मत्स्य कच्छादि रूपवाला

अंशावतार कहलाता है और जो अवतार अनेकानेक उद्देश्यों से हुआ है तथा असंख्य त नाना लीलाकर अन्तर्हित होता है वह पूर्णावतार कहलाता है जैसे रामावतार कृष्णावतार ॥

यहां अंशत्व और पूर्णत्व लीला और कार्य पर हैं परन्तु अवतारों में तत्तल्लीलाश्रयत्व लेके परम्परया उपचरित हैं ॥

वेदादिसच्छास्त्रप्रवर्तक परमात्मा ने जो मर्य्यादा प्रगट की है उसी मर्यादा को पूर्ण रीति से प्रभु ने रामावतार में कर दिखलाई यहां तक कि रामलीला पुत्रमर्य्यादा भ्रातृमर्य्यादा ब्रह्मचर्य्यमर्य्यादा सत्यमर्य्यादा ऽऽद कितनी ही मर्य्यादाओं से भरी है ॥ और किस लीला में किस ठिकाने क्या मर्य्यादा प्रगट होती है इस का समझना भी कठिन है ॥ इसी कारण मर्य्यादा पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र पूर्णावतार हैं।

और श्रु० "मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये" ॥

गी० अ० "मामेकं शरणं व्रज" गी० अ० "मामेव ये प्रपद्यन्ते"—इत्यादि प्रमाणसिद्ध शरणागतरक्षण भी परमात्म का स्वभाव है सो भी विभीषणादिवलि-

द्वारा पूर्णतया दिखलाया और दयालुतादि भी सभी गुण दिखलाये तथा हनुमान लक्ष्मण भरत विभीषण गुरु और सुग्रीव को समान रीति से आलिङ्गन कर समदृष्टिता दिखलाई । इनी नाना कारणों से श्रीकोशलकिशोर की पूर्णलीला पूर्णमर्य्यादा और सर्वतः परिपूर्णता अवश्य स्वीकार्य है ॥

१ । श्रीकृष्णावतार में तो चारों ओर से पूर्णता बरसी पड़ती है । इधर बाललीला पूर्ण, कौमार पूर्ण, वीरता पूर्ण, अपने अङ्ग पर शस्त्राघात सह के अर्जुन की रक्षा करने मे दया पूर्ण, यों ही अद्भुत शृङ्गारादि रसों की भी पूर्णता भगवान के पूर्णावतार होने को प्रगट करती है ॥

२ । विरुद्धधर्माश्रयत्व भी परब्रह्म का स्वभाव है ऐसा शुद्धा द्वैत का सिद्धान्त है और अलौकिकता के कारण विरुद्धधर्म्माश्रयत्व हो ही सकता है यह सभी भक्तिकाण्ड वालों का साग्रह सिद्धान्त है ॥ सो ही श्रुति सम्मत भी है जैसे—

श्रुति—"अणोरणीयान्महतो महीयान्,,

,,—"नमो ह्रस्वाय च वामनाय च बृहते च"

,,—"नमो ज्येष्ठाय च कनिष्ठाय च"

—"तदेजति तन्नैजति" इत्यादि सो विरुद्ध धर्म भी कृष्णावतार में भगवान ने पदे पदे दिखलाये हैं। जैसे अशक्ति और अङ्ग की कोमलता इतनी कि बच्छे की पोंछ पकड़ते तो बच्छा घींच ले जाता, भा० स्कं० १० अ० ८ श्लो० २४,—"वत्सैरितस्तत उभावपि कृष्यमाणौ" ॥ और शक्तिमत्ता इतनी कि गोवर्द्धन धारण किया बालता इतनी कि अपनी क्रीड़ा में समस्त ब्रज को फसाया भा० स्कं १० अ० ८ श्लो० २८,—"कृष्णस्य गोप्यो रुचिरं वीक्ष्य कौमारचापलम्" ॥ और प्रामाणिकता इतनी कि केवल अपने उपदेश के बल से इन्द्रपूजा फेर के गोवर्द्धनपूजा करादी ॥ एक समय ऐसे हलके कि यशोदा खिला रही है और एक समय ऐसे भारी कि तृणावर्त्त को भी लेपड़े ॥ और ब्रह्मा को उसी क्षण एकत्व तथा अनेकत्व भी अपने ही स्वरूप में दिखलाया और द्विभुजत्व तथा चतुर्भुजत्व दिखलायी इत्यादि विरुद्धधर्माश्रयत्व परब्रह्म ही के चिन्ह हैं सो श्रीकृष्ण की पूर्णता के सूचक हैं ॥

२। "एकोऽहं बहु स्यां प्रजायेय" यह ब्रह्म की इच्छा है और भगवान नें भी रास में ब्रह्मा के आगे,

तथा श्रीद्वारका में रनवास में एक से अनेक होना दिखलाये ॥ यह भी पूर्णता की सूचक हैं ॥

४ । परमात्मा अपनी इच्छा से आगे भी में प्रपञ्च का प्रादुर्भाव करते हैं यह ब्रह्म की पूर्ण शक्ति हैं सो भगवान कृष्णनें भी दो बेर तो यशोदा की मुखारविन्द में त्रिभुवन दिखलाया भा० स्कं० १० अ० ७ "पीतप्रायस्य जननी सा तस्य रुचिरस्मितम् । मुखं लालयती राजन् जृम्भतो ददृशे इदम् ॥ ३५ ॥ खं रोदसी ज्योतिरनीकमाशाः सूर्य्येन्दुवन्हिश्वसनाम्बुधींश्च ॥ द्वीप न्नगांस्तद्दुहितॄर्वनानि भूतानि यानि स्थिरजङ्गमानि" ॥ ३६ ॥ और अ० ८ "सा तत्र ददृशे विश्वं जगत्स्थास्नु च खं दिशः ॥ साद्रिद्वीपाब्धि भूगोलं सवाय्वग्नीन्दुतारकम्" ॥ ३७ ॥ इत्यादि तथा अर्जुन को भी स्वस्वरूप में ही विश्व दिखलाया गी० अ० ११ "इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम् ॥ मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि" ॥ ७ ॥ इत्यादि ॥ यह दिखलाके प्रभु नें पूर्णब्रह्मता को दिखाई है ॥

५ प्रभु पूर्ण परमात्मा परब्रह्म सृष्टि के पूर्व एका की थे और उन ने केवल अपनी इच्छा मात्र से जड़चेतनात्मक प्रपञ्च बनाया यह अपूर्व शक्ति श्री

कृष्णचन्द्र भगवान् ने भी अनेक बार दिखलाई ॥ अक्रूर को यमुना में नाना कौतुक दिखलाये और ब्रह्मा को वृन्दावन में नाना प्रकार के रूपों की सृष्टि कर दिखलाई। श्री भा० स्क० १३ श्लो० १९ "यावद्वत्सपवत्सकाल्पकवपुर्यावत्कराङ्घ्र्यादिकम् यावद्यष्टिविषाणवेणुदलशिग्यावद्विभूषाम्बरम् ॥ यावच्छीलगुणाभिधाकृतिवयो यावद्विहारादिकम् सर्वं विष्णुमयंगिरोऽङ्गवदजः सर्वस्वरूपो बभौ" ॥ यह भी पूर्णता का परिचायक है ॥

६ और अथर्ववेदीय गोपालतापनी तथा नाना पुराणों में श्री कृष्ण का पूर्णब्रह्मत्व ही कथित है इत्यादि ॥

सातवां प्रश्न यह है कि—

७ "अवतारों के शरीर पांच भौतिक हैं अथवा अलौकिक ?

ठीक है अवतारों के जीवसदृश देह देखके सन्देह होता है कि ये पाञ्चभौतिक हैं अथवा अलौकिक। परन्तु यही पूर्वपक्ष होता है कि जब तक अलौकिकत्व न सिद्ध हो तब तक लाघव से और देहों की भांति अवतार देह को भी पाञ्चभौतिक

ही मानना उचित है ॥ तथा गर्भ में आना नव मास के अनन्तर जन्म होना और क्रम से बढ़ना तथा युद्धों में रुधिरादि से भींजना क्षुधा पिपासा हर्ष शोकादि धर्मयुक्त होना भी उन देहों की पाञ्चभौतिकत्व का ही गमक है ॥

इन लौकिक देह धर्मों की साधक नाना प्रमाणों से समस्त पुराण तथा रामायणादि ग्रन्थ भरे हैं तिन में से कतिपय दिखला ये जाते हैं ॥

(आधान) भा० स्कं० १० अ० श्लो० "ततो जगन्मङ्गलमच्युतांशं समाहितं शूरसुतेन देवी ॥ दधार सर्वात्मकमात्मभूतं काष्ठा यथाऽऽनन्दकरं मनस्तः" ॥ (जन्म) अ० श्लो० 'देवक्यां देवरूपिण्यां विष्णुः सर्वगुहाशयः ॥ आविरासीद् यथा प्राच्यां दिशीन्दुरिव पुष्कलः" ॥ (वृद्धि) अ० ८ श्लो० २७ "कालेन व्रजताल्पेन गोकुले रामकेशवौ ॥ जानुभ्यां सह पाणिभ्यां रिङ्गमाणौ विजह्रतुः" अ० १५ श्लो० १ "ततश्च पौगण्डवयःश्रितौ व्रजे बभूवतु स्तौ पशुपालसंमतौ ॥ गाश्चारयन्तौ सखिभिः समं पदैर्वृन्दावनं पुण्यमतीव चक्रतुः,, ॥ (क्षत) स्कं० १ अ० ९ श्लो ३८ "शितविशिखहतो विशीर्णदंशः क्षतजपरिप्लुत आतता-

यिनी मे ॥ प्रसभमभिसार मद्वधःर्थं सभवतु मे भगवान् गतिर्मुकुन्दः" ॥ (क्षुधापिपासा) स्क० १० अ० २६ श्लो० १७ "गाश्चारयन् स गोपालैः सरामा दूरमागतः ॥ बुभुक्षितस्य तस्यान्नं सानुगस्य प्रदीयताम्" ॥ इत्यादि ॥ सो इस रीतिसे अवतारों के शरीरों में पाञ्चभौतिकत्व तथा लौकिकत्व ही सिद्ध होता है ॥

(समीक्षा और उत्तर)

पूर्वपक्ष में पाञ्चभौतिकधर्मवत्ता दिखला के अवतार देहों को पाञ्चभौतिक माना है ॥ परन्तु यह पाक्षिक परीक्षा है वस्तुतस्तु यों देखना चाहिये कि अवतारों के शरीरों में केवल प्राञ्चभौतिक ही धर्म पाये जाते हैं अथवा अलौकिक भी ॥

अवतारों के लीलाप्रकरण देखने से पाञ्चभौतिक की अपेक्षा अपाञ्चभौतिक अलौकिक धर्म हीं अधिक मिलते हैं। जैसे कृष्णावतार के जन्म के समय चतुर्भुज रूप से दर्शन देना, पुनः द्विभुज होना इच्छामात्र से सब को निद्रित करना, पूतनातृणावर्तादिवध, कालियमर्दन, गोवर्द्धनोद्धारण, रास में तथा ब्रह्मा के सम्मुख नानारूपधारण, अन्तर्धान-

प्राकट्यादि, कुवलयापीडनाशन, प्रजासहित मथुरा-वासियों का द्वारका में पहुंचाना, अर्जुन को विश्वरूप-दर्शन इत्यादि सहस्रशः ऐसे अलौकिक धर्म मिलते हैं तो अपनिष्पक्षपात हो के परीक्षा करनी चाहिये कि ये दोनों प्रकार के धर्म पाञ्चभौतिक में सम्भव हैं कि अलौकिक दिव्य में। पाञ्चभौतिक पाषाण वनस्पति आदि पदार्थों में जो जो गुण नियत हैं सो हैं न बढते हैं न घटते हैं। इन पदार्थों में नियत गुणयुक्तत्व ही एक प्रकार का लौकिकत्व है। और एक पाषाणखण्ड भी यदि गुरुत्व श्यामत्व कठोरत्वादि यावत् पाञ्चभौतिकगुणविशिष्ट हो परन्तु देखते देखते अन्तर्हित हो जाय फिर नाना रूप से प्रकट हो फिर सूक्ष्म हस्त आदि नाना आकार धारण करै फिर ज्यों का त्यों हो जाय तो पूर्वोक्त लौकिक गुण रहे तो भी वह अलौकिक ही माना जायगा। अर्थात् लौकिक धर्म अलौकिक धर्म के बाधक नहीं होते किन्तु एक भी अलौकिक धर्म हो तो लौकिकता का बाध हो जाता है। अलौकिकधर्म का लौकिकधर्मबाधक होना ऐसा पामर प्रसिद्ध है कि कोई मरा हुआ

पुरुष फिर कहीं देख पड़े तो उस का रङ्ग रूप आकार स्वभाव बोल चाल सब पूर्ववत् हो तो भी दग्ध होने के अनन्तर फिर आना यह एक ही ऐसा प्रबल अलौकिक धर्म माना जाता है कि उसको प्रेत भूत देव कह बैठते हैं॥ यह नहीं विचारते कि मानो धर्म तो वे ही पूर्व वाले हैं एक नया हुआ तो क्या। अर्थात् लौकिकत्व का बाधक अलौकिकत्व है॥ सो कृष्णाद्यवतारों में लौकिक धर्म रहते भी अलौकिकता की प्राधान्य से उन देवों का अलौकिकत्व ही सिद्ध होता है॥ कतिपय लौकिक धर्म भी दिखलाना उस अलौकिकता का भूषण ही है दूषण नहीं॥ फिर लौकिकता पूर्वपक्षी में जैसी समझी है वैसी नहीं है जैसे॥

श्रीभा॰ स्क॰ १० "ततो जगन्मङ्गलमच्युतांशम्॥ इस श्लोक में स्पष्ट ही कहा है कि "मनस्तः दधार" अर्थात् जैसे और स्त्रियां जठर में गर्भधारण करती हैं वैसे देवकी ने धारण नहीं किया किन्तु देवकी ने मन में धारण किया। ऐसे ही जन्मसमय में भी श्री शुकाचार्य्य ने स्पष्ट कहा है कि "आविरासीद्" अर्थात् भगवान् प्रगट भये। इसी से आता है कि

भगवान नें इतर बालकवत् जन्म नहीं लिया किन्तु जैसे खम्भे से प्रगट हो नृसिंहावतार धारण किया वैसे ही कौशल्या औ देवकी के गर्भ से प्रगट हो रामकृष्णावतार धारण किये ॥ और गौर होना श्याम होना बड़े होना यों सब ही धर्म न होते तब तो अवतार ही क्या हुआ तब तो निर्गुणस्वरूप ही रहा सो भेद यही है कि परब्रह्म महानारायण पुरुषोत्तम की तो यह महिमा है कि अपनी अव्याहतशक्तिस्वरूप इच्छा से सृष्टिस्थितिसंहार रूप लीला करते रहते हैं और वे ही भगवान् वैकुण्ठनाथ तथा शेषशायी स्वरूप से भक्तों का उद्धार तथा जगत् का पालन करते हैं। इन का मानवलीला पर आग्रह नहीं है किंतु दिव्यविभूति में दिव्यलीला में विराजमान रहते हैं ॥ और अवतार तो प्रधानत: मर्त्यलोक में मानवलीला के अनुकरण में ही हैं ॥ सो कौमारपौगण्डादि वयोभेद से रूपभेद दिखलाना और हर्षशोकादि तथा युद्धों में रुधिर क्षतादि दिखलाना मानवलीला हैं ॥ ऐसे ही क्षुधापिपासा निद्रा आलस्य क्रोधादि भी मानवलीला ही के अङ्ग हैं। प्रभु जब चाहते हैं तभी अपने दिव्य शरीर

को अदिव्य पाञ्चभौतिकवत् दिखलाते हैं यह उन अलौकिक शरीरों की अधिक अलौकिकता है॥

कोई कोई कहते हैं कि श्रीकृष्ण का जरानामक व्याध के बाण से वैकुण्ठ धाम में पधारना और भी उस शरीर की पाञ्चभौतिकता का सूचक है पर यह तो उन प्रष्टाओं की स्पष्ट ही भूल है। पाञ्चभौतिक शरीरवाले लौकिक जीवों की इच्छा के विरुद्ध उसको कोई शस्त्राघात करता है और उस आघात से मर्म में आहत हो के वह सकष्ट देहत्याग करता है तब उसका विक्षत अस्पृश्य देह यहां पड़ा रह जाता है॥ परन्तु प्रभु के तो इच्छाविरुद्ध कुछ भी नहीं हुआ॥ आप की इच्छानुसार ही तो ब्रह्मशाप और यदुकुल का क्षय हुआ और आप की इच्छानुसार ही उसी ब्रह्मशाप वाले मुशल के कीलाग्र से आप आहत हुए। और पादतल कोई ऐसा मर्म स्थल नहीं है तो भी उसी आघात को आपने स्वधामयात्रा का द्वार मान लिया और दौड़ा हुआ व्याध आया तो उसने चतुर्भुजस्वरूपधारी सायुध नारायणस्वरूप से विराजमान प्रभु को देखा। व्याध ने तो कहा कि मुझे दण्ड दीजिये पर आपने

उस समय भी ऐसी शरणागतवत्सलता दिखलाई कि उस को उसी देह से वैकुण्ठ भेज दिया। और इस जरानामक व्याध को भी पूर्वजन्म की कथा। ऐसे प्रसिद्ध है कि जब श्री रामचन्द्र रावणवध कर के अयोध्या के राजसिंहासन पर विराजे उस समय सुग्रीवनलनीलादि वानरों को नाना प्रकार के कङ्कणहारादि पारितोषिक दिये और जिसने जो वर मांगा उस को वही पारितोषिकस्वरूप दिया परन्तु कई बार कहने पर भी अङ्गद नें कुछ न लिया॥ तब श्रीरामचन्द्र ने बड़े आग्रह से बारबार अङ्गद से पूछा कि "वत्स कुछ भी मांगो" पर अङ्गद ने यही कहा कि "इस लोक में तो मैं युवराज हूं और उस लोक के लिये आप के चरणारविन्द का दर्शन कर रहा हूं तो अब कुछ भी याचनीय बाकी नहीं है सो क्या मांगूं। मुझे कुछ नहीं चाहिये॥ 'तब श्री रामचन्द्र ने कहा कि" जब तक हम तुम्हें, कुछ देते नहीं हैं तब तक सन्तोष नहीं होता सो कुछ भी मांगो तब अङ्गद खड़ा हुआ और हाथ जोड़ बोला कि "महाराज यह दुख मेरे हृदय से नहीं जाता है कि मेरे निरपराध पिता को आपने

क्षिप के मारा सो यही वर मांगता हूं कि मैं अपने पिता का बदला लूं। क्योंकि इस दुख के जाने का दूसरा उपाय नहीं है" ॥ यह सुन श्रीरामचन्द्र नें अङ्गद को कण्ठ में लगाया और कहा कि वत्स मैं तेरी इस पितृभक्ति से बड़ा ही प्रसन्न हुआ हूं और इस बार तो नहीं परन्तु मैं फिर अवतार लूंगा तो तेरे ही बाण से भूलोक का त्याग करूंगा ॥ वरदान के प्रभाव से यह घटना हुई है कि उसी अङ्गद ने जरानाम व्याध हो के बाण मारा ॥ सो यह सब विषय भी प्रभु की इच्छा ही से हुआ है ॥ और फिर आपने अपनी इच्छा ही से स्वदेह से ही अग्नि प्रगट की कि वह चतुर्भुजस्वरूप निःशेष हो गया। यह सब अलौकिकता ही का सूचक है ॥ जैसे श्री भा० स्कं० ११ अ० ३० ॥ "वनमालापरीताऽङ्ग मूर्त्ति-मद्भिर्निजायुधैः । कृत्वोरौ दक्षिणे पादमासीनं पङ्क-जारुणम् ॥३२ ॥ मुसलावशेषायःखण्डकृतेषुर्लुब्धको जरा। मृगास्याकारं तच्चरणं विव्याध मृगशङ्कया ॥३३॥ चतुर्भुजं तं पुरुषं दृष्ट्वा स कृतकिल्विषः। भीतः पपात शिरसा पादयोरसुरद्विषः" ॥३४॥ श्रीभ-गवानुवाच ॥ "माभैर्जरे त्वमुत्तिष्ठ काम एष कृतो हि

मे ॥ याहि त्वं मदनुज्ञातः स्वर्गं सुकृतिनां पदम् ॥३९॥ इत्यादिष्टो भगवता कृष्णेनेच्छाशरीरिणा । त्रिः परिक्रम्य तं नत्वा विमानेन दिवं ययौ" ॥४०॥ अ० ३१ "लोकाभिरामां स्वतनुं धारणाध्यानमङ्गलाम् ॥ योगधारणयाग्नेय्यादग्ध्वाधामाविशत् स्वकम्" ॥६॥ "सौदामन्या यथा ऽऽकाशेयान्त्या हित्वाभ्रमण्डलम् ॥ गतिर्न लक्ष्यते मर्त्यैस्तथा कृष्णस्य दैवतैः ॥९॥ "रामपत्न्यश्च तद्देहमुपगुह्याग्निमाविशन् ॥ वसुदेवपत्न्यस्तद्गात्रं प्रद्युम्नादीन् हरेः स्नुषाः ॥ कृष्णपत्न्योऽविशन्नग्निं रुक्मिण्याद्यास्तदात्मिकाः" ॥ २० ॥ "द्वारकां हरिणा त्यक्तां समुद्रोऽप्लावयत् क्षणात् ॥ वर्जयित्वा महाराज श्रीमद्भगवदालयम् ॥ २३ ॥ नित्यं संनिहितस्तत्र भगवान् मधुसूदनः ॥ स्मृत्याऽशेषाशुभहरं सर्वमङ्गलमङ्गलम्" ॥२४॥ इस प्रकरण के अ० ३१ के श्लो० ६ पर श्रीधरादि अनेक आचार्यों का तो यह तात्पर्य्य है और यही सिद्धान्त भी है कि "आग्नेय्या योगधारणया तनुम् अदग्ध्वा स्वकं धाम आविशत्" ॥ अर्थात् योगी लोग भी इच्छाधीन मृत्यु होते हैं और जब चाहैं तब योगाग्नि से देह भस्म करके वैकुण्ठ जाते हैं परन्तु भगवान् ने तो सो भी न किया अर्थात् सदेह वैकुण्ठ को

सनाथ किया ॥ अतएव आगे का उदाहरण भी सङ्गत होता है कि जैसे एक मेघ से चमक के दूसरे मेघ में जाती हुई बिजली की गति मनुष्यों को नहीं विदित होती वैसे ही पूर्ण पर ब्रह्म श्री कृष्ण भगवान् भी इस वेग से स्वधाम में पधारे कि मनुष्य क्या देवता भी उस वेग की गति को लक्षित न कर सके ॥ अतएव और और वीरपत्नियों ने तो पति-देहसहित चिताप्रवेश किया परन्तु कृष्णपत्नियों ने केवल मन ही में भगवान् का स्मरण कर के चितारोहण किया ॥ इस से यह सिद्ध हुआ कि अवतारों के शरीर दिव्य हैं अदिव्य नहीं ॥

आठवां प्रश्न यह है कि—

८. "ईश्वर अवतार लेते हैं इस में प्रमाण क्या"

(ठीक है ईश्वर के अवतार लेने में यद्यपि भले ही कुछ बाधक न हो परन्तु अवतार ग्रहण में कोई प्रमाण है कि नहीं ॥ इस संशय पर यही पूर्वपक्ष होता है कि कोई प्रमाण नहीं अत एव कोई भी ईश्वरावतार नहीं है)

(समीक्षा और उत्तर)

यथार्थ है ईश्वरावतार के विषय में प्रमाण आव-

अथवा है सो धर्म के विषय में कीदृश प्रमाणों से प्रमेय को प्रमित करना इस विषय पर सर्वप्रामाणिकशिरोधार्य भगवान् मनु का कथन शिरोधार्य है ॥ मनुस्मृति । अ० २ श्लो० १ "विद्वद्भिः सेवितः सद्भिर्नित्यमद्वेषरागिभिः । हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तं निबोधत ॥ "और,, वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्॥ आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च" ॥६॥ तथाच "वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः ॥ एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद् धर्मस्य लक्षणम्' ॥१६ ॥ अर्थात् मनु यही कहते हैं कि धर्म में वेद, स्मृति, सदाचार और अन्तःकरण प्रमाण हैं । इन में वैशिष्ट्य इतना ही है कि वेद स्वतः प्रमाण; स्मृति वेदोक्त विषय में परतः प्रमाण (अर्थात् वेद के संक्षिप्तोक्त विषयों के विशदीकरण रूप अनुकूलता से प्रमाण) वेदानुक्त विषय में स्वतः प्रमाण और वेदविरुद्ध होने से अप्रमाण ॥ यों ही सदाचार भी वेद और स्मृति से उक्त विषय में परतः प्रमाण और अनुक्त विषय में स्वतः प्रमाण तथा विरुद्ध में अप्रमाण है ॥ और अन्तःकरण भी तीनों से सूचित विषय में परतः प्रमाण और असूचित विषय में स्वतः प्रमाण तथा विरुद्ध में अप्रमाण है ।

फलितार्थ यह हुआ कि पूर्वोक्त चारों ही पूर्व पूर्व के अविरोध में प्रमाण हैं ॥ ऐसी अवस्था में यदि भारतवर्ष के पुराने से पुराने इतिहास को देखते हैं तो उस समय भी भारतवर्ष नानामन्दिरों से व्याप्त ही मिलता है ॥ और मन्दिरों में रामकृष्णादि अवतारमूर्त्ति ही मिलती हैं सो अवतार स्वीकार यावत्सदाचार सिद्ध है ॥

श्री रामानुजाचार्य श्री वल्लभाचार्य श्री मध्वाचार्य श्री शङ्कराचार्य प्रभृति सभी सत्पुरुषों के शिरोमणि ने अवतार माना है और बड़ी धूम से उन उन अवतारों के स्मरण भजन का प्रचार किया है। यहां तक कि केवल इसी देश में नहीं किन्तु यावद्देश की प्रसिद्ध प्रसिद्ध सम्प्रदायप्रवर्तक प्रायः अवतार ही मानने वाले हैं। तो जब तक यह सदाचार वेदस्मृतिविरुद्ध न सिद्ध किया जाय तब तक तो यह आचार स्वतः प्रमाण ही है। अतएव धर्मसेतुपालक भगवान् मनु नें स्थलान्तर में कहा है कि "येनाऽस्य पितरो याता येन याताः पितामहाः। तेन गच्छेत् सतां मार्गं तेन गच्छन् नरिष्यति" ॥

अष्टादश पुराण तथा उप पुराण अवतारलीलाओं

से ही भरे हैं। सो पुराण प्रसिद्ध प्रमाण हैं ही फिर प्रमाण की आशङ्का क्यों ? क्या पुराण के अप्रामाण्य में कोई प्रमाण मिला है ? जिन पुराणों की प्रशंसा वेदपर्य्यन्त मिलती है उन पुराणों की अप्रामाण्य शङ्का क्यों ? वेद में पुराणप्रामाण्य सामवेदीय छान्दोग्य० प्रपाठक ७ ख० २ "सहोवाचर्ग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यं राशिं दैवं निधिंवाको वाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां चत्रविद्यांनचत्रविद्यां सर्पदेवजनविद्याम्" ॥२॥ यदि कहिये कि वहाँ पुराण का अर्थ पुराना है और जहां पुराणेतिहास अथवा इतिहास पुराण शब्द मिले वहां पुराना इतिहास यही अर्थ करना तो ऐसा अर्थ कदाचित् पुराणेतिहास शब्द का तो हो सकेगा परन्तु पूर्वोक्त श्रुति के "इतिहासपुराण" पद का यह अर्थ नहीं हो सकता क्योंकि "नीलकमलं" होता है "कमलनीलं" कभी नहीं होता वैसे ही विशेषण पद का पूर्वनिपात हो जायगा और ऐसे अर्थ में "इतिहासपुराण" शब्द कदापि नहीं सिद्ध होगा "इसलिये" इतिहास और पुराण

यही ठीक अर्थ है अतएव बृहदारण्यक अ० ६ ब्रा० ५ ऋ० ११ "सयथार्द्रैधाग्नेरभ्याहितस्य पृथग्धूमाविनिश्चरन्त्येवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि......"

अश्वमेधप्रकरण। "अष्टमेऽहन् किञ्चिदितिहासमाचक्षीतेत्येवमेवाध्वर्य्युः संप्रेष्यति न प्रक्रमां जुहोति अथ नवमेऽहन् किञ्चित् पुराणमाचक्षीतेवमेवाध्वर्य्युः संप्रेष्यति न प्रक्रमां जुहोति" इत्यादि नाना स्थलों में पुराण की प्रशंसा वेद में भी मिलती है तो वेदकीर्तित पुराणों का कथन न माननें में गमक क्या है। अर्थात् पुराण प्रामाण्य से अवतार होना सर्वथा सिद्ध हुआ॥

और यदि वेद पर भी पूरा आग्रह हो तो अथर्ववेद की गोपालतापनी उपनिषद् के उत्तर भाग में देखिये (ऋग् २३......आदि) "सा होवाच गान्धर्वी कथं वाऽस्मासु जातोऽसौ गोपालः कथं वा ज्ञातोऽसौ त्वया मुने कृष्णः को वाऽस्य मन्त्रः किं वाऽस्य स्थानं कथं वा देवक्यां जातः को वाऽस्य ज्यायान् रामो

भवति कीदृशो पूजाऽस्य गोपालस्य भवति साचात्प्र-कृतिपरो योऽयमात्मा गोपालः कथं त्ववतीर्णो भूम्यां हि वै स होवाच तां ह वै ॥ २३ ॥ एको ह वै पूर्वं नारायणो देवः" ॥२४॥ इत्यादि प्रकरण ग्रन्थसमाप्ति पर्य्यन्त चला गया है इस में मथुरापुरी और वृन्दा-वन तथा चतुर्व्यूह का पूरा निरूपण है "और रामकृष्ण अनिरुद्ध प्रद्युम्न की मूर्त्ति का भी प्रकरण है" इस कारण अवतार का वैदिकत्व भी सिद्ध हुआ यों ही नाना अवतारों का क्रम वेद में है यथा

॥ वामनावतार ॥

साम० अ० २ ख० २ सू० ३ तथा यजु अध्याय ५ मन्त्र १५ "इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधानिदधे पदम्। समूढमस्य पांसुरे ॥

व्याख्या।

(विष्णुः) धृतत्रिविक्रमावतारो नारायणः (इदं) जगत् [विचक्रमे] पादाक्रान्तमकार्षीत् (त्रेधा) भुवि अन्तरिक्षे, दिवि च [पदम्] चरणम् [निदधे] स्थापि-तवान् ॥ [अस्य वामनस्य पदं [पांसुरे] ब्रह्माण्डे (समूढम्)

[अथवा अस्य पांसुरे धूलियुक्तपादस्थोमे जगत् समूढम् अन्तर्भूतम्]

और यजुः अ० ५ मन्त्र १८ तथा ऋक् माण्डल १ अष्टक २ अनुवाक् २१ सू० १५४ मन्त्र (१ इसी तात्पर्य पर श्रीमद्भागवत स्क० २ अ० ७ श्लो० ४० भी है॥ "विष्णोर्नुवीर्यगणनां कतमोर्हतीह यः पार्थिवान्यपि कविर्विममेरजांसि ॥ चस्कंभयस्वरहसास्खलतात्रिपृष्ठंयस्मात्त्रिसाम्यसदनादुरुकम्पयानम्") १ विष्णोर्नु कं वीर्य्याणि प्रवोचं यः पार्थिवानि विममे रजांसि। योऽस्कभायदुत्तरं सधस्थं विचक्रमाणस्त्रेधोरुगायो विष्णवे त्वा" ॥ (इस "अग्नेस्तनूः अध्याय में वारवार विष्णुवर्णन ही भरा है)

व्याख्या।

[विष्णोः] विभोः (नु) [वितर्के] खलु (कंवीर्य्याणि प्रवोचं) कान् पराक्रमान् कथयामि, विष्णुचरितानि वक्तुमशक्यानि इति यावत्। [यःउरुगायः] सर्वैर्गीयमानः। (त्रेधा विचक्रमाणः) प्रकारत्रयेण पादन्यासं विदधानः (पार्थिवानि रजांसि विममे) पृथिवीमम्बूनि रेणुकरम्बकानि रजःप्रधानानि भूतानि वा मापयांबभूव शब्दयामास [सधस्थम् अस्कभायद्] अन्तरिक्षं प्रतिबद्धयामास शब्दयाञ्चकार मापयामासेति वा (उत्तरम्) स्वर्गादिकम् अस्कभायद् इति पूर्वेणान्वयः ॥

कपिलावतार ॥ ऋग् ॥ मण्डल १० अ० २ सू० २७

"दशानामेकं कपिलं समानं तं हिन्वन्ति क्रतवे पार्य्याय गर्भं माता सुधितं वक्षणा स्ववेनं तं तुषयन्ती बिभर्त्ति"

व्याख्या ।

(दशानां) प्रजापतेरंशभूतानामेतत्पूर्वमन्त्रोद्दगीतानाम् [एकं] प्रधानम् अथवा दशावतारोणां समानम् । अवतारविशेषमिति यावत् ॥ (क्रतवे) ब्रह्मयज्ञाय ज्ञानलक्षणोपदेशाय वा (हिन्वन्ति) अपरे प्रजापतेरंशाः प्रेरयन्ति । कीदृशाय क्रतवे इत्याह (पार्य्याय) परिसमापयितव्याय प्रणेतव्याय उपदेशायेति यावत् "(माता) जननी (वक्षणासु) वक्षणा इति नद्य उच्यन्ते ताभिस्थाश्चापो लक्ष्यन्ते मातृगर्भस्थासु मूर्च्छां वप्सु (सुधितम्) सुहितं प्रजापतिना स्थापितम्" (अवेनन्तं] गतिनिवासादिम कामयमानम् । (गर्भम्) प्रजापतेर्गर्भम् । तुषयन्ती सम्यग् ज्ञानान्युपदेष्टुं योग्योऽयमिति प्रीता (बिभर्त्ति) धारयति ॥

परशुरामावतार

छन्द आर्चिक २ ख २ अ २ सू ७ ॥

"अपिबत् कद्रुवः सुतमिन्द्रः सहस्रबाह्वे यत्र द्-
दिष्टपौंस्यम्" ॥

व्याख्या।

(इन्द्रः) धृतजामदग्न्यरूपो नारायणः ॥ (सहस्र-
बाह्वे) सहस्रार्जुनाय "मञ्चाः क्रोशन्ति" इति न्यायेन
तन्नाशायेत्यर्थः ॥ (कद्रुवः सुतम्) सर्पं तत्सदृशं क्रो-
धमित्यर्थः ॥ (अपिबत्) हृदि अधारयत् (यत्र) यस्मिन्
सहस्रार्जुने समये वा। (पौंस्यम्) पौरुषम्। अ-
ददिष्ट अदर्शयत्। अदीपयत् अदीप्यत वा ॥

नृसिंहावतार

अथर्वोपनिषत् नृसिंहतापनी उप० २ ख० २ तथा
ऋग्। मण्डल १ अ० २१ सू १५४ ख० ४

"प्रतद्विष्णुस्तवते वीर्य्येण मृगो न भीमः कुचरो
गिरिष्ठः ॥ यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधि क्षियन्ति
भुवनानि विश्वा" ॥

व्याख्या।

(विष्णुर्मृगः गिरिष्ठः) नृसिंहरूपधारी भगवान्
वीर्य्येण न भीमः कुचरः) पराक्रमेण अभयङ्करः
भक्ताभयप्रदाता भूमिचरः भूमौ (अवताररूपेण वि-
चरन् (प्रस्तवते) स्तुतिं प्राप्नोति ॥ यस्योरुषु त्रिषु

विक्रमणेषु यस्य अवर्जसलेषु त्रिषु विग्रहेषु विष्णु-ब्रह्मरुद्रात्मकेषु (विश्वाभुवनानि अधिक्षियन्ति) सर्वाणि भुवनानि निवसन्ति । अथवा यस्य वामनावतारसम्बन्धिषु विक्रमणेषु पराक्रमेषु सर्वाणि भुवनानि अन्तर्भवन्ति ॥

वाराहवतार

(ऋग् म॰ ९ अ॰ ५ सू॰ ९७) "प्रकाव्यमुशनेव ब्रुवाणो देवो देवानां जनिमाविवक्ति ॥ महिव्रतः शुचिबन्धुः पावकः पदावराहो अभ्येति रेभन्"

व्याख्या

(उशनेव) शुक्र इव (प्रकाव्यं ब्रुवाणः) उक्तिविशेषं श्रावयन् (देवो देवानाम्) सुरेश्वरः नारायणः ॥ (जनिमाविवक्ति अवतारं) प्रकटयति ॥ (महिव्रतः) कृतभूम्युद्धरणप्रतिज्ञः भूम्युद्धारणशालो, प्रभूतकर्मा वा शुचिबन्धुः शुचीनां बन्धुः अथवा शुचयो बन्धवो यस्य स सदाचारेषु भक्तेषु दयालुरिति यावत् । दीप्ततेजस्को वा पावकः पापशोधकः ॥ वराहः शूकरः धृततद्रूपो भगवानिति यावत् । रेभन् शब्दायमानः पदा पादेन अभ्येति समागच्छति । अत्र 'प्र' इत्यस्य विवक्तीत्यनेन सह वैदिकोऽन्वयः ॥

कृष्णावतार

ऋग्वेद "जज्ञान एव व्यबाधत स्पृधः प्रापश्यद् वीरो अभिपौंस्यं रणम् ॥ अवृश्चदद्रिमव सः स्यदस्सृजदस्तभ्नान्नाकं स्वपस्यया पृथुम्" ॥

व्याख्या

(जज्ञान एव व्यबाधत स्पृधः) जातमात्र एव स्पृधः पूतनातृणावर्त्तादीन् वैरिणः व्यबाधत जघान विशेषेण विचित्रलीलाभिर्वा हिंसितवान् ॥ (प्रापश्यद् वीरो अभिपौंस्यं रणम् (पश्चाद् वीरः अविश्रान्तो मथुराद्वारकादिषु अभिपौंस्यं पौरुषानुरूपं रणम्, दैत्यैः सह संग्रामम् प्रापश्यत् अनुभूतवान् कृतवान् अदर्शयद् वा ॥ भूमिष्ठदैत्यदमनमुक्त्वा देवेन्द्रमदभञ्जकत्वमाह (अवृश्चदद्रिमव सः स्यदस्सृजद्) अद्रिं गोवर्द्धनगिरिम् अवृश्चत् उदपाटयत्। सः श्रीकृष्णः स्यत् प्रस्रवत् इन्द्रप्रेरितं जलम् अवासृजत् अधिक्षिप्तवान् निवारितवान् इति यावत् ॥ (अस्तभ्नान्नाकं स्वपस्ययापृथुम्) ईदृश्या पस्यया गोकुलस्थितिकारणेच्छया रिरक्षिषया वा पृथुं विस्तीर्णं नाकं स्वर्गमस्तभ्नात् प्रतिबद्धवान्। स्वर्गीयाणां पराक्रमं व्यर्थं कृतवान् इति तात्पर्यम् ॥

ऋ० अष्टक ३ वर्ग ७ मण्ड० ४ अ० ५ सू० ७ अनु० १ म० ९ "कृष्णं तम एम रुशतः पुरोभास्वरिष्णुरर्चिर्वपुषामिदेकम् । यदप्रवीता दधते ह गर्भं सद्यश्चिद् जातो भवसीदु दूतः" ॥

अर्थ

(पुरः) तिस्रः पुरः [रुशतः] नाशयत, रुद्ररूपेणेतियावद्, [ते] तव [कृष्णं भाः] कृष्णाख्यं तेजः [एम] वयं प्राप्नुयाम, भजेम इतियावत्, यस्य [एकमिद्] एकमेव [अर्चिः] वह्निज्वालासदृशोंशः जीवः, जातौ एकवचनम् (वपुषां चरिष्णुः) देहानां भोक्ता, अस्तीति शेषः । (यद् अप्रवीता गर्भं दधित ह) न प्रवीतं गतागतं यस्याः सा अप्रवीता निगडबद्धा देवकी, यद् गर्भं दधते, तथा च छान्दोग्यम् "कृष्णाय देवकीपुत्राय" इति । यश्च, (सद्य इद् उ) प्राकट्यानन्तरं सद्य एव (दूतः) मातरपितरौ दुनोतीति दूतः दुदुउपतापे, स्वविरहेण मातापितरावक्लेशयदिति यावत् ॥

ऋ० अष्ट० ३ मण्ड० ४ अ० ४ सू० ७ अनु० १ मन्त्र० १० "सद्यो जातस्य ददृशानमोजो यदस्य वातोऽनु वाति शोचिः । वृणक्ति तिग्मामतसेषु जिह्वां स्थिरा चिदन्ना दयते विजम्भैः" ॥

अर्थ

[सद्योजातस्य ओजः ददृशानम्) बालरूपस्य कृष्णस्य तेजो दृष्टमस्माभिः । कीदृशं तदित्याह (अत्सेषु वातः शोचिः अनुवाति) शुष्कतृणेषु क्षिप्तं ज्वालाजालं वर्द्धते (तिग्मां जिह्वां स्थिरा चिदन्ना दयन्ते) तीक्ष्णामस्य जिह्वां प्राप्य तत् स्थिरमभ्याज्ञवद् भवति, (विजम्भैः दयते) ईदृशैर्हिंस्रैः स जगत्पालयति ॥ एतेन भागवतादिप्रसिद्धो दावदहनपानकर्त्ता कृष्णः शरणीय इति स्पष्टमुक्तम् ॥

ऋ० अष्ट० १ वर्ग २० मण्ड० १ अ० ५ अनु० १२ सू० ७३ मन्त्र ६ "ऋतस्य हि धेनवो वावशानाः स्म दूध्नीः पीपयन्त द्युभक्ताः । परावतः सुमतिं भिक्षमाणा विसिन्धवः समया सस्रुरद्रिम्" ॥

अर्थ ।

'द्युभक्ता दूध्नी धेनवः ऋतस्य वावसानाः स्म, दिव्या बहुदुग्धा गावः भगवतो वशंवदाः सन्ति । [पीपयन्त] ता दुग्धं पाययन्ति । (अद्रिं समया परावतः सुमतिं भिक्षमाणाः) गोवर्धनगिरेः निकटे दूरतस्थ कृष्णां याचमानाः, क्विास्ते कोऽयं धातुरिति कृष्णमेव वाञ्छन्त्यः कृष्णतृणं वा भिक्षमाणा इति

यथोचितं बोध्यम् । (विसिन्धवः सत्रुः) स्पन्दनशीला दुग्धोपसेचनं चक्रुः ॥

'ऋ० मण्ड० १० सू० १३५ मन्त्र १, "यस्मिन् विश्वानि काव्याचक्रे नाभिरिव श्रिता चितं जूती सपर्य्यत, व्रजे गावो न संयुजे युजेऽश्वां अयुक्षत नभन्तामन्य के समे" ।

अर्थ ।

[यस्मिन् विश्वानि काव्यानि चक्रे नाभिरिव श्रिता) चक्रेरथाङ्गे नाभिरिव तत्केन्द्रवर्ति धर्घरिकेव यस्मिन् सर्वाणि काव्यानि पर्य्यवसन्नानि । [व्रजे गावः संयुजे यो व्रजे गाः योजितवान् । नेतिकाकुः । [युजे अश्वान् अयुक्षत') अर्जुनसारथ्यकाले युद्धे घोटका-नयोजयत्, (अन्यके समे नभन्ताम् शत्रवः सर्वे हन्यन्ताम् । "समः सर्वपर्यायः" "णभतुभर्हिंसायाम् (चितं जूती सपर्यत) तं गुणत्रयनियन्तारं मनसा पूजयत ॥

सामान्यतः अवतारगमक

श्रुति

यजुर्वेद पुरुषसूक्त ॥

"प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा

विजायते । तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा' ॥

अर्थ ।

(प्रजापतिः) पुरुषोत्तमः (अन्तश्चरति) सर्वेषामन्तः प्रविश्य प्रकाशते । (गर्भे अजायमानो बहुधा विजायते) अनुत्पत्तिधर्म्माऽपि रामाद्यनेकरूपैः प्रादुर्भवति । तथा च गीतावाक्यम् "अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोपि सन् । प्रकृतिं स्वामवस्थाय सम्भवाम्यात्ममायया ' । (तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीराः) ब्रह्मवादिनस्तस्य उत्पत्तिस्थानं ब्रह्मरूपतामिति यावत् अनुभवन्ति ॥ (तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा) तस्मिन् प्रजापतौ सर्वे लोकाः तिष्ठन्ति एव अर्थात् एवंमवताररूपेण जायमानोऽपि एकदेशवर्त्याकाराश्रयोऽपि सर्वव्यापकत्वं सर्वलोकाधारत्वं ब्रह्मात्मकत्वञ्च न जहाति ॥

छान्दोग्योपनिषद्

"अथैतद्द घोर आङ्गिरसः कृष्णाय देवकीपुत्राय उक्त्वा, उवाच । अपिपास एव स बभूव । सोऽन्तवेलायामेतत्त्रयं प्रतिपद्येत अक्षितमसि, अच्युतमसि, प्राणसंशितमसीति ,, ॥

इति पूर्वार्द्धं समाप्तम्

विविध प्रश्नोत्तर ।

प्रश्न १। राम सीतावियोग से रोते फिरे कृष्ण ऊखल में बांधे गये चोरी की इत्यादि कारणों से ये अवतार नहीं हो सक्ते । और यदि पुराण प्रामाण्य से अवतारत्व सिद्ध करो तो हम मानेंगे नहीं क्योंकि पुराण तो गप्य हैं केवल वेद ही को हम प्रमाण मानते हैं ।

उत्तर ॥ ऐसे प्रश्न कर्त्ताओं का पुराणप्रामाण्य न मानना प्रायः स्वभावसिद्ध ही है । क्योंकि पुराणों को प्रमाण मानें तब पुराण तो रामकृष्णनृसिंहादि के भगवदवतारत्व के निरूपण में अग्रणी ही हैं फिर तो शङ्का का उदय ही न हो इसलिये ऐसे प्रश्नवाले पहले ही से पुराणों को तिलाञ्जलि दे बैठते हैं । परन्तु अब उनके प्रश्न का पूर्वार्द्ध ही नहीं बैठता है । क्योंकि यदि पुराण ही नहीं मानते तो श्रीरामचन्द्र का सीतावियोग से विकल होना और श्रीकृष्ण का ऊखल में बांधा जाना तथा चोरी करना वेद में कहां लिखा है और यदि इस विषय में पुराण का वचन कहो तो उसे तो तुम प्रमाण ही नहीं मानते !! और यदि कहो कि इस अंश में

पुराण को प्रमाण मानते हैं। तो एक ही ग्रन्थ को किसी विषय में प्रमाण मानना और किसी विषय में नहीं यह सत्परिपाटी के विरुद्ध है॥

और यह तो पहले ही कह चुके हैं कि अवतार लीलाओं में लौकिकत्व अलौकिकत्व मिला ही रहता है। और इन दोनों के मेल से यह विलक्षण आनन्द अवतार लीला ही में मिलता है केवल ब्रह्म में नहीं॥ यदि लौकिक लीलांश समस्त ही हटा दिया जाय तो बालरूप से प्रगट होना भी मानवलीला समझ अनुचित ही माना जायगा॥ और फिर प्रश्नकर्त्ता की समझ में कीदृशलीलाविशिष्ट को अवतारत्व उचित होगा? गम्भीर दृष्टि से देखैं तो कैसा भी अवतारत्व मानें किञ्चित् लौकिकसम्बन्ध तो मानना ही होगा और जब लौकिकत्वविशिष्ट अलौकिक-लीलात्व अवतारलीलाओं में मानना ही है तो फिर शङ्कावकाश नहीं हैं॥

और पहले ही कह चुके हैं कि प्रभु ऐसी लीला करते हैं जिन को सुन के सब प्रकार के श्रोताओं का चित्ताकर्षण हो जैसे श्री भा० स्क० १० अ० १ श्लो० ४ "निवृत्ततर्षैरुपगीयमानाद् भवौषधाच्छ्रोत्र-

मनोऽभिरामात् । क उत्तमश्लोकगुणानुवादात् पुमान् विरज्येत विनापशुग्घ्नात्" ॥ अ० ३३ श्लो० "अनुग्रहाय भूतानां मानुषं देहमास्थितः ॥ भजते तादृशीः क्रीडा याः श्रुत्वा तत्परो भवेत" ॥ इसी लिये लोकचित्ताकर्षक नाना प्रकार की लीला भगवान् ने की हैं ॥ यहां तक कि भगवल्लीला नवों रसों से भरी हैं कोई रस बाकी नहीं है ॥ जैसे कृष्णावतार में संयोगशृङ्गार प्रधान है रामावतार में वियोग-शृङ्गार प्रधान है । भीष्मरावणादि पर कोपावस्था में वीर, लक्ष्मण को शक्ति लगने पर रामविलाप में करुण, मुख में त्रिलोकीदर्शनादि अद्भुत, बाललीला की माखन चोरी आदि हास्य, कालयवन और जरा-सन्ध से भागना तथा नृसिंहावतार में सब को भीत करना भयानक, मृत शतधन्वा के वस्त्रों में मणि ढूंढना वीभत्स, युद्ध करना रौद्र, वशिष्ठ जी से तत्त्वोपदेश लेना स्वयं अर्जुन को उपदेश देना शान्त । फलितार्थ यही हुआ मानवलीला अवतारत्व की विघटक नहीं है ॥ अन्यथा जगत्कर्त्ता को भी ईश्वरत्व नहीं आवेगा ॥ क्योंकि यदि उनने आवश्यकता न होनेपर केवल क्रीलार्थं जगत् बनाया

तो निष्प्रयोजन केवल खेल के लिये कोई काम करना तो बालस्वभाव है इस लिये जगत्कर्ता में भी अनीश्वरत्वापत्ति होगी ॥ इस लिये सर्व शक्तिमान् सर्व रूप में मानवलीला का सम्बन्ध अनीश्वरत्व का प्रयोजक नहीं हो सकता ॥

प्र० (२) पुराणों में रामकृष्णाद्यवतार केवल रूपकमात्र हैं। जैसे अन्तःकरण ही लङ्का है और उस में रजोगुण तमोगुण सत्त्वगुण ही क्रमशः रावण कुम्भकर्ण विभीषण हैं। रामचन्द्र ज्ञान हैं वे रजोगुण तमोगुण को नष्ट कर के सत्वगुण को अन्तःकरण का नियामक बनाते हैं। ऐसे ही कृष्णावतार में भी हृदय ही वृन्दावन है हृत्कमलनिवासी भगवदंश ही श्रीकृष्ण हैं। नाना वृत्ति ही गोपी हैं। दशविध अनाहतनाद ही वंशी आदि की ध्वनि हैं। और सब वृत्तियों को भगवत्सम्बन्ध के साथ आवृत्ति होना ही रास है। बस ऐसे ही सब अवतारकथाओं में कुछ न कुछ वैज्ञानिक अर्थ ही रहता है सिवाय इन रूपकों के वस्तुतः रामकृष्णादि नहीं हुए हैं ॥

उ० ॥ ठीक है रूपकद्वारा वैज्ञानिक उपदेश स्व-

रूप दूसरा अर्थ भी निकले इस में हम निषेध नहीं करते परन्तु इस रूपककल्पना से वास्तविक रामकृष्णाद्यवतार का अपलाप नहीं हो सक्ता॥ क्योंकि यदि सचमुच रामचन्द्र नहीं हुए होते तो जो उन के सामने ही बनाई गई और जिस का गान उन के पुत्रों ने उन के सम्मुख ही कर के उनें प्रसन्न किया वह वाल्मीकि रामायण आज तक घर घर में पढ़ी पढ़ाई जाती है सो रूपकसम्बन्धी ग्रन्थ प्रत्यक्ष कैसे मिला? श्रीरामचन्द्र यदि वस्तुतः न थे और कविता के ढङ्ग से रूपकातिशयोक्ति आदि भङ्गी बांध यह एक कथनमात्र है तो अद्यावधि रामचन्द्र के जन्मकर्मसम्बन्धी नाना स्थान कैसे प्रसिद्ध भये? अयोध्या में सहस्रशः राममन्दिर हैं और जन्मस्थान राजगद्दी आदि अलग अलग स्थान प्रसिद्ध हैं। जनकपुर में गिरिजास्थान धनुःस्थान आदि प्रत्यक्ष हैं। अयोध्या से लङ्कापर्य्यन्त चित्रकूट, भरतकूप, रामशय्या, अत्रिभरद्वाजसुतीक्ष्णशरभङ्गादि आश्रम, पम्पा, किष्किन्धा, सेतुबन्धरामेश्वर इत्यादि शतशः श्रीरामचन्द्र की यात्रादि के सूचक स्थान अद्यापि प्राप्य हैं। और दक्षिणसमुद्र में अभी तक

कोसों तक भूभाग बढ़ा हुआ देख पड़ा है। समुद्र में लङ्का की ओर चलने में बराबर ऊंचा जल तक मिलता जाता है। यह निःसन्देह श्रीरामचन्द्र की सेतु का चिन्ह है।

ऐसे ऐसे सहस्रशः चिन्ह सर्वथा इस बात का सूचन करते हैं कि श्रीरामचन्द्र नें अवश्य इन स्थानों में लीला की थी॥ ऐसे ही श्रीकृष्णावतार के मथुरा, गोकुल, वृन्दावन, द्वारका, आदि प्रत्यक्ष सिद्ध स्थान हैं। सो यदि सचमुच श्रीकृष्णावतार न हुआ होता तो केवल रूपकमात्र के ये स्थान कहां से आते और इन से करोडों यात्री चिरकाल से जयध्वनि करते क्यों लोट पोट होते? फलतः ये सहस्रों स्थान ही अवतारसत्ता के निरूपक हैं॥

और रूपक वाले कृष्ण ने गीतोपदेश कैसे किया? रूपक वाले अर्जुन का पोता परीक्षित कहां से आया? रूपक वाले रामादि के वंश के क्षत्रिय आज तक कैसे लभ्य हैं? इत्यादि सैकड़ों विरोध ऐसे उपस्थित होते हैं कि जिन से केवल रूपक कदापि नहीं चल सक्ता॥

प्र० (२) राम औ परशुराम दोनों एक ही समय में थे सो दोनों अवतार हों तब तो ईश्वरद्वैतापत्ति

और एक को अवतार तथा दूसरे को जीव मानें तब ग्रन्थविरोध क्योंकि दोनों ही पुराणादि में अवतार कहे गये हैं। जैसे गीत गोविन्द "वेदानुद्धरते जगन्निवहते भूगोलमुद्बिभ्रते, दैत्यं दारयते बलिं छलयते क्षत्रक्षयं कुर्वते॥ पौलस्त्यं जयते हलं कलयते कारुण्यमातन्वते म्लेच्छान्मूर्छयते दशाकृतिकृते कृष्णाय तुभ्यं नमः"॥

उ०॥ द्वितीय प्रश्न के उत्तर में इस बात का निरूपण भली भाँति हो चुका है कि अवतार का रूप एक देशवर्ती हो तो भी भगवान् तो सर्वव्यापक ही हैं अत एव ऐसे ही समय में प्रभु ने अनेक रूप दिखलाये हैं। इस रहस्य का मर्म समझने से पूर्वोक्त शङ्का नहीं हो सकी क्योंकि जब यह सिद्ध है कि भगवान् तो सदा सर्वव्यापक एक रस ही हैं परन्तु चाहे जहां चाहे जितने रूप प्रगट कर देते हैं॥ अतएव महाभारत शान्तिपर्व,—

"नमः समस्तभूतानामादिभूताय भूभृते।
अनेकरूपरूपाय विष्णवे प्रभविष्णवे"॥

प्र० ४। पुराणभेद से अवतार लीलाओं में परस्पर भेद पड़ता है जैसे श्रीमद्भागवत में श्रीराधा का नाम ही नहीं है और ब्रह्मवैवर्त्त पुराण का

कृष्णजन्मखण्ड राधामय है इत्यादि इस लिये त्रि-निगमनाभाव से दोनो ही कथा कल्पित जान पड़ती हैं॥ और कल्पितकथाओं द्वारा अवतारसिद्धि नहीं हो सक्ती॥

उ० (४) यथार्थ है पुराणों में परस्पर नाना भेद पड़ते हैं परन्तु उन का मर्म पुराणव्याख्यान में कहने का है यहां उस के कथन से विस्तर करना अनावश्यक है तथापि यह देखना चाहिये कि जैसे आजकाल ऐतिहासिक ग्रन्थों में परस्पर भेद पड़ता है तो आज काल के विद्वान् लोग उस के उसी अंश मे सन्देह समझते हैं सारे इतिहास को गप्प नहीं मानते वैसे ही यदि किसी अंश मे भेद पडे तो उस से सारी अवतार कथा गप्प नहीं हो सक्ती इस लिये विरोधांश छोड़ समस्त अवतार लीला सत्य ही हैं अत एव श्रीवल्लभाचार्य ने तत्त्वदीप के शास्त्रार्थ-प्रकरण में कहा है कि "विरुद्धांशपरित्यागात्प्रमाणं सर्वमेव हि" ॥ और भागवत मे राधा का नाम नहीं हैं ब्रह्मवैवर्त्त में है यह तो कोई विरोध नहीं हैं ॥ एक ग्रन्थ का अनुक्त विषय दूसरे ग्रन्थ में रहता ही है जैसे रामायण में कोई विषय का विस्तर है और

रामाश्वमेध में कोई विषय का ॥ और भागवत मे कुरुक्षेत्र के युद्धविषय का संक्षेप हैं तथा महाभारत में उस का पूर्ण बिस्तर है । इस लिये राधाप्रकरण लेके भी बिरोध नहीं आता ॥ क्योंकि ॥ "बाहुं प्रियांश उपधाय गृहीतपद्मः" "तस्या अमूनि नः क्षोभं कुर्वन्त्युच्चैः पदानि यत्" "सापि मेने तदात्मानम्" इत्यादि श्लोकों से राधाचरित भी संक्षेप से भागवत में कहा ही है उसी का विस्तर अन्यत्र है ॥ यदि कहो कि राधा का नाम शुकाचार्य ने नहीं कहा सो क्यों ? तो यह विभिन्न बिषयक शङ्का है अवतार विषयक नहीं । और परीक्षित को केवल सात दिन कथा सुननी है तिस में पांचवें दिन यह प्रकरण आया है केवल दो दिन बाकी हैं और शुकाचार्य को द्वारकापर्य्यन्त कथा कहनी और ज्ञानोपदेश करना है तिस पर परीक्षित की प्रकृति ऐसी है कि बात बात में प्रश्न करता है सो शुकाचार्य्य ने समझा कि राधा का नाम सुन के कहीं पूछ बैठे कि ये कौन थी और इन का चरित कैसा है तो बड़ा बिस्तर होगा उतना अवसर नहीं है । इसलिये नाम ही नहीं प्रगट किया ॥ और राधास-

म्बन्धी जितने कथानक हैं सो शुद्ध प्रेमलक्षणा भक्ति के रस में डूबे हैं और परीक्षित ज्ञानाधिकारी हैं प्रेमाधिकारी नहीं। अतएव गोपियों के शुद्ध प्रेम की कथा में परीक्षित को बार बार कई सन्देह हुए। तब पहिले तो शुकाचार्य्य ने झकझक के "उक्तं पुरस्तात्" इत्यादि कहा फिर भी परीक्षित का सन्देह न गया तब नीति रीति से "तेजीयसां न दोषाय" इत्यादि कहा और राधिका की कथा अपात्र समझ न कहा। और कृपा के राधा का नाम कहा भी जैसे "अनया राधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वरः" अर्थात्, हे अनयाः मानभाजनत्वात् नयरहिताः नूनं निश्चयेन हरिः ईश्वरः भगवान् राधितः राधा मनसि हृदि वा संजाता अस्येति राधितः। राधाशब्दादितच्) इत्यादि नाना भाव हैं परन्तु फलित यही है कि इन शङ्काओं से अवतारसत्ता में कुछ भी भेद नहीं पड़ता॥

प्रं० (५) आप तो श्रीकृष्णावतार को पूर्णावतार कहते हैं परन्तु श्रीमद्भागवत में नाना स्थलों में श्रीकृष्ण को अंशत्व तथा कलात्व का कथन है॥ जैसे स्क० २ अ० ७ श्लो० २६ "कलया सितकृष्णकेशः" स्क० १० अ० १ श्लो० २ "तत्रांशेनावतीर्णस्य" अ० ७

श्लो० ९ "यथाहमंशभागेन" अ० २० श्लो० ४८ "कलाभ्यां नितरां हरे." ॥ इत्यादि तो श्रीकृष्ण में पूर्णत्व कैसे ?

उ० । जैसे कुछ वाक्य अंशत्व के विषय में मिले हैं वैसे भा० स्क० १ अ० ३ श्लो० २८ "एते चांशकला पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्" यह कथन २४ अवतारों की गणना के अनन्तर एक श्लोक में ऋषि-मुनिकथनान्तर अवतार तथा ऋष्यादिकों के क्रमशः अंशत्व तथा कलात्व कह श्रीकृष्ण के पूर्णावतारत्व का निर्णायक है । यदि वेदव्यास को अंशत्व कथन कुछ भी इष्ट होता तो यहां इस श्लोक ही की आवश्यकता न थी । इस लिये केवल पूर्णता ही के कथनार्थ जो यह श्लोक आरम्भ किया सो पूर्णता कथन ही सर्वथा प्रबल है । इस लिये विरोधशङ्का निरासार्थ पूर्वोक्त वाक्यों का ही अर्थसङ्कोच उचित है ॥ पूर्णता के द्योतक और भी नाना वचन हैं स्क० ९ अ० २४ श्लो० ५५ "अष्टमस्तु तयोरासीत् स्वयमेव हरिः किल" ॥ भगवद्गीता अ० १५ श्लो० १८ "यस्मात्क्षर······पुरुषोत्तमः" । भा० १० स्क० अवतीर्य यदोर्वंशे भगवान् भूतभावनः । कृतवान्यानि विश्वात्मा तानि नो वद विस्तरात् ॥ इत्यादि ॥ सो वि-

रोधनिवारणार्थ प्रशंसावाक्यों का भी सङ्कोच करना होगा ॥ क्यों कि पूर्णताद्योतक सिद्धान्त के वाक्य हैं और अंशत्वकलात्वादि प्रसङ्गान्तर हैं ॥ इस लिये यही समझना कि यावदंशवत्ता और यावत्कलावत्ता के ही तात्पर्य्य से अंश और कलात्व का कथन उपचार है ॥ अथवा यों समझना कि प्रायः पुराणों में तीन प्रकार की भाषणभङ्गी होती हैं ॥ एक तो परमतभाषा जिसमें दूसरे का मत कहा जाय, एक लोकभाषा जिस में लोकप्रसिद्ध बातें कही जांय ॥ और एक समाधिभाषा जिस में सब शङ्काओं के समाधानस्वरूप सिद्धान्त वाक्य कहे जाते हैं। सो समाधिभाषा अपर भाषाओं की बाधिका होती है ॥ अत एव पूर्णताद्योतक समाधिभाषा के वाक्य अंशतासूचक लोकभाषा के बाधक हैं और ऐसे वाक्यों के सिद्धान्ताविरुद्ध दूसरे अर्थ भी प्रायः हो सकते हैं॥ जैसे (कलयासितकृष्णकेशः) [कलया कलाभिः, जातावेकवचनम् यथा गौः पद्रा न स्प्रष्टव्येत्यत्र गोत्वावच्छिन्नस्यैव ग्रहणं तथाऽत्राऽपि कलात्वावच्छिन्नेन सहितः इत्यर्थः एकत्वमविवक्षितम् अथवा कलया यशोदाकन्यया मायया सह ॥ सितकृष्णकेशः सि-

ताः बद्धाः कृष्णाः केशा यस्य तादृशः ॥ यद्वा सितः शिवः कृष्णः विष्णुः को ब्रह्मा एषामीशः]॥(अंशेनावतीर्णस्य) [अंशेन बलेन सह अवतीर्णस्य, अथवा विष्णोरंशेनावतीर्णस्य बलभद्रस्य अत एवाग्रे "वासुदेवकलानन्तः सहस्रवदनः स्वराट्" अत एव च कृष्णार्थमवतीर्य यदोर्वंशे इति पुनः प्रश्नावतारः ॥ अंशेन अंशैरिति वा] (अंशभागेन)[बलभद्रेण, अंशा भागा यस्य तादृशेन पूर्णरूपेणेति वा] (कलाभ्यां नितरां हरेः) [एवमेष श्लोकार्द्धः । ' बभौ भूः पक्वसस्याढ्या कलाभ्यां नितरां हरेः । अन्वयश्चैवं, पक्वसस्याढ्या हरेः कलो भूः आभ्यां बभौ" अर्थः स्फुटः अथवा " अखण्डमण्डलो व्योम्नि रराजोडुगणेः शशी" इति चन्द्रं प्रस्तुय । " उद्दृष्यन् वारिजानि सूर्य्योत्थाने कुमुद्विना" इति च सूर्यं प्रस्तुय प्रवृत्तं कथनमिदं कलापदेन सूर्य्याचन्द्रमसावेवोपस्थापयति] ।

प्र० (६) श्री रामचन्द्र नें ताडका को मारा यह ते। स्त्रीहत्या की और बाली को छिप के मारा यह ते। अधर्मयुद्ध किया और सती सीता को बनवास दिया यह भी धर्मशास्त्र के विरुद्ध किया से। यदि रामचन्द्र साक्षात् भगवान् के अवतार थे तो ऐसा

अनुचित कार्य्य क्यों किया !

उत्तर—श्री रामचन्द्र नें ताड़का को अपने उत्साह से नहीं मारा प्रत्युत उस समय भी उन के हृदय में यह बात जाग्रत थी कि यह स्त्री है इस को मारना उचित नहीं परन्तु विश्वामित्र आग्रह करते जाते थे कि इसे अवश्य मारिये यह ऋषि मण्डल के तप में बड़ा विघ्न करती है तब श्री रामचन्द्र ने विचारा कि यद्यपि स्त्री अवध्य है तो भी एक तो यह ऋषिमण्डलों के तप में विघ्न करने वाली है दूसरे महर्षि विश्वामित्र वारंवार इस के मारने को कहते हैं। ऋषियों के बचन ही धर्मशास्त्र हैं सो विश्वामित्र महर्षि प्रत्यक्ष ही कह रहे हैं। तिस पर भी और पुराने महात्माओं का उदाहरण दे के कह रहे हैं कि अत्यन्त पापिनी स्त्री की हत्या करना भी राजधर्म है। इसलिये तुम इस बात में ग्लानि मत करो॥ यदि कदाचित् इन की बात न मानें तो यह और भी प्रबल अधर्म है क्योंकि पिता जी की वारंवार यह आज्ञा हुई है कि जो कुछ महर्षि विश्वामित्र जी कहैं सो बिना बिचारे करना। इन सब कारणों से ताड़का का बध करना ही धर्म प्राप्त

हुआ इस कारण श्री रामचन्द्र जी ने ताड़का का वध किया सो किसी प्रकार भी अनुचित नहीं है यह विषय वाल्मीकि रामायण के लेख देखने से निःसन्देह हो जाता है॥

जैसे वाल्मीकिरामायण, वालकाण्ड सर्ग २५

"एतां राघव दुर्वृत्तां यक्षीं परमदारुणाम्।
गोब्राह्मणहितार्थाय जहि दुष्टपराक्रमाम्॥ १५॥
नह्येनां शापसंसृष्टां कश्चिदुत्सहते पुमान्।
निहन्तुं त्रिषु लोकेषु त्वामृते रघुनन्दन॥ १६॥
नहि ते स्त्रीवधकृते घृणा कार्य्या नरोत्तम।
चातुर्वर्ण्यहितार्थं हि कर्त्तव्यं राजसूनुना॥ १७॥
नृशंसमनृशंसं वा प्रजारक्षणकारणात्।
पातकं वा सदोषं वा कर्त्तव्यं रक्षता सदा॥ १८॥
राज्यभारनियुक्तानामेष धर्मः सनातनः।
अधर्म्यां जहि काकुत्स्थ धर्मो ह्यस्या न विद्यते॥१९॥
श्रूयते हि पुरा शक्रो विरोचनसुतां नृप।
पृथिवीं हन्तुमिच्छन्तीं मन्थरामभ्यसूदयत्॥ २०॥
विष्णुना च पुरा राम भृगुपत्नी पतिव्रता।
अनिन्द्रं लोकमिच्छन्ती काव्यमाता निषूदिता॥२१॥
एतैश्चान्यैश्च बहुभीराजपुत्रैर्महात्मभिः।

अधर्मसहिता नार्य्यो हताः पुरुषसत्तमैः।
तस्मादेनां घृणां त्यक्त्वा जहि मच्छासनान्नृप ॥२१॥

इति पञ्चविंशः सर्गः।

मुनेर्वचनमक्लीवं श्रुत्वा नरवरात्मजः।
राघवः प्राञ्जलिर्भूत्वा प्रत्युवाच दृढव्रतः॥ १ ॥
पितुर्वचननिर्देशात् पितुर्वचनगौरवात्।
वचनं कौशिकस्येति कर्त्तव्यमविशङ्कया॥ २ ॥
अनुशिष्टोऽस्म्ययोध्यायां गुरुमध्ये महात्मना।
पित्रा दशरथेनाहं नावज्ञेयं हि तद्वचः॥ ३ ॥
सोऽहं पितुर्वचः श्रुत्वा शासनाद् ब्रह्मवादिनः।
करिष्यामि न सन्देहस्ताड़कावधमुत्तमम्॥ ४ ॥
गोब्राह्मणहितार्थाय देशस्य च हिताय च।
तव चैवाऽप्रमेयस्य वचनं कर्तुमुद्यतः" ॥ ५ ॥ इति

और वालि को मारा सो भी बालि को वधयोग्य पातकी समझ राजदण्ड दिया न कि बाली के साथ युद्ध किया जिस में युद्ध के नियम लगाये जांय यह भी बाल्मीकिरामायण देखने से असंशयित होता है जैसे, बाल्मीकि किष्किन्धाकाण्ड, सर्ग॥१०॥ (जब सुग्रीव ने बाली का दुराचार कहा तब श्री रामचन्द्र की उक्ति)।

एवमुक्तः स तेजस्वी धर्मज्ञो धर्मसंहितम् ।
वचनं वक्तुमारेभे सुग्रीवं प्रहसन्निव ॥ ३१ ॥
अमोघाः सूर्य्यसंकाशा निशिता मे शरो इमे ।
तस्मिन् वालिनि दुर्वृत्ते पतिष्यन्ति रुषान्विताः॥३२॥
यावत्तं नहि पश्येयं तव भार्य्यापहारिणम् ।
तावत्स जीवेत् पापात्मा वाली चारित्रदूषकः"॥३३ ॥

(इन वचनों से यह स्पष्ट विदित होता है कि वालि को छोटे भाई की स्त्रीहरणरूप परमपातकी समझ राजधर्म और निज ईश्वरता के अनुकूल धर्म समझ के ही प्रभु ने उस के मारने की इच्छा की थी और सुग्रीव की सहायतास्वरूप युद्ध करना नहीं चाहा था, जब वालि ने आहत होके आक्षेप किया तब भगवान् की उक्ति से भी यही बात पक्की होती है)। जैसे वाल्मीकि किष्किन्धाकाण्ड, सर्ग ॥ १८ ॥

"तं निष्प्रभमिवादित्यं मुक्ततोयमिवाम्बुदम् ।
उक्तवाक्यं हरिश्रेष्ठमपशान्तमिवानलम् ॥ २ ॥
धर्मार्थगुणसम्पन्नं हरीश्वरमनुत्तमम् ।
अधिक्षिप्तस्तदारामः पश्चाद्वालिनमब्रवीत् ॥ ३ ॥
धर्ममर्थञ्च कामञ्च समयञ्चापि लौकिकम् ।
अविज्ञाय कथं बाल्यान्मामिहाद्यविगर्हसि ॥ ४ ॥

अपृष्टा बुद्धिसम्पन्नान् बृद्धानाचार्य्यसम्मतान्।
सौम्य वानर चापल्यात् त्वं मां वक्तुमिहेच्छसि ॥५॥
इक्ष्वाकूणामियं भूमिः सशैलवनकानना।
मृगपक्षिमनुष्याणां निग्रहानुग्रहेष्वपि ॥ ६ ॥
तां पालयति धर्मात्मा भरतः सत्यवानृजुः।
धर्मकामार्थतत्त्वज्ञो निग्रहानुग्रहे रतः ॥ ७ ॥
नयश्च विनयश्चोभौ यस्मिन् सत्यञ्च सुस्थितम्।
विक्रमश्च यथादृष्टः स राजा देशकालवित् ॥ ८ ॥
तस्य धर्मकृतादेशा वयमन्ये च पार्थिवाः।
चरामो वसुधां कृत्स्नां धर्मसन्तानमिच्छवः ॥ ९ ॥
तस्मिन्नृपतिशार्दूले भरते धर्मवत्सले।
पालयत्यखिलां पृथ्वीं कश्चरेद्धर्मविप्रियम् ॥ १० ॥
ते वयं मार्गविभ्रष्टं स्वधर्मे परमे स्थिताः।
भरताज्ञां पुरस्कृत्य चिन्तयामो यथाविधि ॥ ११ ॥
त्वं तु संक्लिष्टधर्मश्च कर्मणा च विगर्हितः।
कामतन्त्रप्रधानश्च न स्थितो राजवर्त्मनि ॥ १२ ॥
ज्येष्ठो भ्राता पिता वापि यश्च विद्यां प्रयच्छति।
त्रयस्ते पितरो ज्ञेया धर्मे च पथि वर्त्तिनः ॥ १३ ॥
यवीयानात्मनः पुत्रः शिष्यश्चापि गुणोदितः।
पुत्रवत्ते त्रयश्चिन्त्या धर्मश्चैवात्र कारणम् ॥ १४ ॥

सूक्ष्मः परमविज्ञेयः सतां धर्मः प्लवंगम।
हृदिस्थः सर्वभूतानामात्मा वेद शुभाशुभम्॥ १५॥
चपलश्चपलैः सार्धं वानरैरकृतात्मभिः।
जात्यन्ध इव जात्यन्धैर्मन्त्रयन् प्रेक्षसे नु किम्॥ १६॥
अहन्तु व्यक्ततामस्य वचनस्य ब्रवीमि ते।
नहि मां केवलाद्रोषात् त्वं विगर्हितुमर्हसि॥ १७॥
तदेतत्कारणं पश्य यदर्थं त्वं मयाहतः।
भ्रातुर्वर्तसि भार्य्यायां त्यक्त्वा धर्मं सनातनम्॥१८॥
अस्य त्वं धरमाणस्य सुग्रीवस्य महात्मनः।
रुमायां वर्त्तसे कामात् स्नुषायां पापकर्मकृत्॥ १९॥
तद्व्यतीतस्य ते धर्मात्कामवृत्तस्य वानर।
भ्रातृभार्य्याभिमर्शेऽस्मिन्दण्डोऽयं प्रतिपादितः॥२०॥
नहि लोकविरुद्धस्य लोकवृत्तादपेयुषः।
दण्डादन्यत्र पश्यामि निग्रहं हरियूथप॥ २१॥
न च ते मर्षये पापं क्षत्रियोऽहं कुलोद्गतः।
औरसीं भगिनीं वापि भार्य्यां वाप्यनुजस्य यः॥ २२॥
प्रचरेत नरः कामात् तस्य दण्डो वधः स्मृतः।
भरतस्तु, महीपालो वयं त्वादेशवर्तिनः॥ २३॥
त्वञ्च धर्मादतिक्रान्तः कथं शक्यमुपेक्षितुम्।
गुरुधर्मव्यतिक्रान्तं प्राज्ञो धर्मेण पालयन्॥ २४॥

भरतः काम-युक्तानां निग्रहे पर्य्यवस्थितः ।
वयं तु भरतादेशावधिं कृत्वा हरीश्वर ॥
त्वद्विधान् भिन्नमर्य्यादान्निग्रहीतुं व्यवस्थिताः२५
सुग्रीवेण च मे सख्यं लक्ष्मणेन यथा तथा ।
दारराज्यनिमित्तञ्च निःश्रेयसकरः स मे ॥ २६ ॥
प्रतिज्ञा च मया दत्ता तदा वानरसन्निधौ ।
प्रतिज्ञा च कथं शक्या मद्विधेनानवेक्षितुम् ॥ २७ ॥
तदेभिः कारणैः सर्वैर्महद्भिर्धर्मसंश्रितैः ।
शोभनं तव यद्युक्तं तद्भवाननुमन्यताम् ॥ २८ ॥
सर्वथा धर्म इत्येव द्रष्टव्यस्तव निग्रहः ।
वयस्यस्योपकर्त्तव्यं धर्ममेवानुपश्यता ॥ २९ ॥
शक्यं त्वयापि तत् कार्य्यं धर्ममेवानुवर्तता ।
श्रूयते मनुना गीतौ श्लोकौ चारित्रवत्सलौ ॥ ३० ॥
गृहीतौ धर्मकुशलैस्तथा तच्चरितं मया ।
राजभिर्धृतदण्डास्तु कृत्वा पापानि मानवाः ।
निर्मलाः स्वर्गमायान्ति सन्तः सुकृतिनो यथा ॥ ३१ ॥
शासनाद्वापि मोक्षाद्वा स्तेनः पापात् प्रमुच्यते ।
राजा त्वशासनात्तस्य तदवाप्नोति किल्बिषम् ॥ ३२॥
आर्य्येण मम मान्धात्रा व्यसनं घोरमीप्सितम् ।
श्रमणेन कृते पापे यथा पापं कृतं त्वया ॥ ३३ ॥

अन्यैरपि कृतं पापं प्रमत्तैर्वसुधाधिपैः ।
प्रायश्चित्तञ्च कुर्वन्ति तेन तच्छाम्यते रजः ॥ ३४ ॥
तदलं परितापेन धर्मतः परिकल्पितः ।
वधो वानरशार्दूल न वयं स्ववशे स्थिताः॥३५॥"

॥ इति ॥

(निष्कृष्टार्थं यह है कि श्री रामचन्द्र कहते हैं कि यह भरत का धर्मराज्य हैं इस में कोई कहीं कुछ भी अनर्थ नहीं कर सकता, तू चपल वानर है, विना समझे मुझे कलङ्क लगाता है, हम लोग महाराज भरत की ओर से धर्मरक्षा के लिये विचरण करते हैं, जिसे धर्मविरुद्ध आचरण करते देखते हैं उसे दण्ड देते हैं, सुन, छोटा भाई पुत्रसमान होता है और छोटे भाई की स्त्री पतोहू सदृश है, सो तैंने छोटे भाई सुग्रीव की स्त्री अपने घर में डाल रखी है इस कारण तेरे ऐसे अधर्मी को दण्डदेना राजा का प्रधान कर्तव्य है। जिन पापियों को दण्ड दिया जाता है वे पापी भी निर्मल हो जाते हैं और यदि पापियों को राजा दण्ड न दे तो पापियों के पाप से राजा भी पापी होता है।

इस लिये वानरराज, तू पश्चात्ताप मत [कर] हम अपने वश नहीं हैं नियम के वश हो हमें दण्ड देना ही पड़ा"॥

और श्री रामचन्द्र नें भगवती सीता को बनवास दिया सो भी सीता के 'सतीत्व में 'सन्देह कर के नहीं किन्तु पौरापवाद के निवृत्ति के लिये अति दुःख-पूर्वक सीता का बिसर्जन किया, क्योंकि अकीर्ति को विद्यमान रखना श्रीरामचन्द्र की नीति नहीं और पुरबासियों का सर्वसाधारण मण्डल भी ऐसा नहीं कि अग्निशोधन आदि का बृत्तान्त कहने से समझ जाय और अकीर्ति का त्याग करे इसलिये सीता को बालमीकि के आश्रम में रखना ही प्राप्त हुआ । जैसे बालमीकि रामायण उत्तर काण्ड सर्ग ४४ (श्रीरामचन्द्र का भरतादि भ्राताओं के सम्मुख कथन)

"तेषां समुपविष्टानां सर्वेषां दीनचेतसाम् ।
उवाच वाक्यं काकुत्स्थो मुखेन परिशुष्यता ॥ १ ॥
सर्वे शृणुत भद्रं वो मा कुरुध्वं मनोऽन्यथा।
पौराणां मम सीतायां यादृशी वर्त्तते कथा ॥ २ ॥
पौरापवादः सुमहांस्तथा जनपदस्य च ।

वर्त्तते मयि बीभत्सा सा मे मर्माणि कृन्तति ॥ ३ ॥
अहं किल कुले जात इक्ष्वाकूणां महात्मनाम्।
सीतापि सत्कुले जाता जनकानां महात्मनम् ॥४॥
जानासि त्वं यथा सौम्य दण्डके विजने वने ।
रावणेन हृता सीता स च विध्वंसितो मया ॥ ५ ॥
तत्र मे बुद्धिरुत्पन्ना जनकस्य सुतां प्रति ।
अत्रोषितामिमां सीतामानयेयं कथं पुरीम् ॥ ६ ॥
प्रत्ययार्थं ततः सीता विवेश ज्वलनन्तदा ।
प्रत्यक्षन्तत्र सौमित्रे देवानां हव्यवाहनः ॥ ७ ॥
अपापां मैथिलीमाह वायुश्चाकाशगोचरः ।
चन्द्रादित्यौ च शंसेते सुराणां सन्निधौ पुरा ॥ ८ ॥
ऋषीणाञ्चैव सर्वेषामपापां जनकात्मजाम् ।
एवं शुद्धसमाचारा देवगन्धर्वसन्निधौ ॥ ९ ॥
लङ्काद्वीपे महेन्द्रेण मम हस्ते निवेदिता ।
अन्तरात्मा च मे वेत्ति सीतां शुद्धां यशस्विनीम् ॥१०॥
ततो गृहीत्वा वैदेहीमयोध्यामहमागतः ।
अयन्तु मे महान्वादः शोकश्च हृदि वर्त्तते ॥ ११ ॥
पौरापवादः सुमहांस्तथा जनपदस्य च ।
अकीर्त्तिर्यस्य गीयेत लोके भूतस्य कस्यचित् ॥ १२ ॥
पतत्येवाधमांल्लोकान् यावच्छब्दः प्रकीर्त्यते ।

अकीर्त्तिर्निन्द्यते देवैः कीर्त्तिर्लोकेषु पूज्यते ॥ १३ ॥
कीर्त्यर्थं तु समारम्भः सर्वेषां सुमहात्मनाम्।
अप्यहञ्जीवितं जह्यां युष्मान् वा पुरुषर्षभाः ॥ १४ ॥
अपवादभयाद्भीतः किं पुनर्जनकात्मजाम्।
तस्माद्भवन्तः पश्यन्तु पतितं शोकसागरे ॥ १५ ॥
नहि पश्याम्यहं भूतं किञ्चिद् दुःखमतोऽधिकम्।
श्वस्त्वं प्रभाते सौमित्रे सुमन्त्राधिष्ठितं रथम् ॥१६॥
आरुह्य सीतामारोप्य विषयान्ते समुत्सृज।
गङ्गायास्तुपरे पारे वाल्मीकेस्तु महात्मनः ॥ १७ ॥
आश्रमो दिव्यसङ्काशस्तमसातीरमाश्रितः।
तत्रैनां विजने देशे विसृज्य रघुनन्दन ॥ १८ ॥
शीघ्रमागच्छ सौमित्रे कुरुष्व वचनं मम।
न चास्मिन् प्रतिवक्तव्यः सीतां प्रति कथञ्चन ॥१९॥
तस्मात्त्वङ्गच्छ सौमित्रे नात्र कार्य्या विचारणा।
अप्रीतिर्हि परा मह्यं त्वयैतत् प्रतिवारिते ॥ २० ॥
शापिता हि मया यूयं पादाभ्यां जीवितेन च।
ये मां वाक्यान्तरे ब्रूयुरनुनेतुं कथञ्चन।
अहिता नाम ते नित्यं मदभीष्टविघातनात् ॥ २१
मानयन्तु भवन्तो मां यदि मच्छासने स्थिताः।
इतोऽद्य नीयतां सीता कुरुष्व वचनं मम ॥ २२ ॥

पूर्वमुक्तोऽहमनया गङ्गातीरेऽहमाश्रमान् ।
पश्येयमिति तस्याश्च कामः संवर्त्यतामयम् ॥ २३ ॥
एवमुक्त्वा तु काकुत्स्थो वाष्पेण पिहितेक्षणः ।
संविवेश स धर्मात्मा भ्रातृभिः परिवारितः ।
शोकसंविग्नहृदयो निशश्वास यथा द्विपः ॥ २४ ॥”

(निष्कर्ष यह है कि एक दिन एकान्त में श्री रामचन्द्र अपने सब भाइयों को बैठा कर बोले कि तुम लोग उदास नहीं जी लगा के सुनो । सीता के विषय में पुरवासियों में क्या धूम उडी है जानते हो!! यह ऐसा घृणाजनक अपवाद उठा है कि मेरे मर्म का वेध होता हैं । मैं भी इक्ष्वाकु के वंश में उत्पन्न हूं, सीता भी महात्मा जनकों के वंश में है । रावण ने सीता का ग्रहण किया, मैंने उसको मारा, मुझे उसी समय इस अपवाद की आशङ्का हुई थी, और लक्ष्मण, तुमारे ही सामने सीता अग्नि में प्रविष्ट हुई, तब अग्नि वायु, सूर्य, चन्द्र इत्यादि सब ने ही सीता दोषरहित कही । मैं यद्यपि इतने स्पष्ट निर्णय पर सीता को यहां लाया हूँ परन्तु अब पौरापवाद का क्या किया जाय । हाय ! अकीर्ति बड़ी बुरी

होती है, कोटि कोटि आरम्भ केवल कीर्ति के लिये ही किये जाते हैं, पर कीर्ति के ठिकाने अकीर्ति भई तो जीने को धिक्कार है। मैं अकीर्ति मिटाने के लिये प्राणपर्यन्त दे सकता हूं, तुम लोगों का भी त्याग कर सकता हूं, सीता तो क्या है। देखो मैं कैसे शोकसागर में पड़ा हूं। लक्ष्मण तुम सवेरे ही सीता को रथ पर बैठा गङ्गापार बाल्मीकि के आश्रम में छोड़ आओ। मुझे इस विषय पर कुछ भी न कहना तुम लोगों को शपथ है। इस विषय में मुझे समझाओ गे तो शत्रु समझूंगा। सीता ने भी मुझ से कहा था कि मैं फिर इन आश्रमों को देखूं सो उसका वचन भी रहै। यों कहते कहते श्री रामचन्द्र की आंखों में आंसू भर गये औ अवश हो दीर्घ निश्वास लेने लगे॥"

प्र० (७) श्री कृष्ण नें स्नान करती हुई गोपियों का वस्त्रहरण क्यों किया और नग्न स्त्रियों को जल से बाहर निकल कर वस्त्र मांगने के लिये हठ क्यों किया?

उ०॥ कथा यों है कि सर्वजनमनोहरस्वरूप श्रीकृष्ण के साधारण गुण ने ब्रजगोपियों के चित्त

का भी आकर्षण किया तब गोपियों ने श्रीकृष्ण-प्राप्ति के लिये हेमन्त में हविष्यभोजन और कात्यायनी का अर्चनरूपव्रत किया (भा० स्कं १० अ० २२ श्लो०१ 'हेमन्ते प्रथमे मासि नन्दव्रजकुमारिकाः। चेरुर्हविष्यं भुञ्जानाः कात्यायन्यर्चनव्रतम्") और वे भगवती से यही वर माँगती थी कि श्रीकृष्ण हमारे पति हों("नन्दगोपसुतं देवि पतिं मे कुरु ते नमः")

जब कर्म के अनुष्ठान से रावण हिरण्यकशिपु आदि को लोकानिष्ट फल भी अवश्य ही मिलता आया है तव गोपियों को इस व्रतानुष्ठान का फल भी अवश्य ही मिलना उचित था ॥ परन्तु कर्मफल-प्राप्ति में प्रतिबन्धक एक प्रबल बात यह थी कि वे नङ्गी हो के नहाती थी ॥ आज तक पञ्जाब राज-पुताना सिन्ध आदि देशों में यह दुष्ट परिपाटी देखते हैं कि स्त्रियां नग्न होके जल में घुसती हैं सो व्रज-गोपियों की भी यही परिपाटी थी ॥ परन्तु भगवान में उन का सुदृढ अनुराग था इस कारण भवान् ने दयापूर्वक यह विचारा कि इन मूर्ख स्त्रियों को विदित नहीं है कि नग्न स्नान बुरा है इसी कारण ये नित्य नङ्गी नहाती हैं और इसी कारण इन का

व्रतभङ्ग होता है, सो इन को इस की शिक्षा देना भी कर्मफल देना आवश्यक है। तब भगवान् कर्म-फल देने के लिये वहां पहुंचे और सब वस्त्र उठा कदम्बवृक्ष पर चढ़ गये। गोपी वस्त्र मांगती थीं श्री कृष्ण नहीं देते थे इस से एक तो श्रीकृष्ण नें गोपियों को यह लौकिक शिक्षा दी कि तुम नङ्गी नहाती हो कोई वस्त्र उठा ले जाय तब ? तुम सवस्त्र स्नान करो और कोई अपर पदार्थ उठा लेजाय तो भला घर तक तो ओढ़े वस्त्र से भी जा सक्ती हो परन्तु नग्न नहाती को छोड़ कोई सब वस्त्र उठा ले जाय तब तो नङ्गी होने के कारण तुमे जल से बाहर निकलना भी कठिन है॥ दूसरे शास्त्रीय शिक्षा भी दी कि नग्न नहाने से अपराध होताहै॥

यह उपदेश श्रीमुख से भगवान ने साक्षात् भी किया है। भा० स्क० १० अ० २२ श्लो०१८ "यूयं विवस्त्रा यदपो धृतव्रता व्यगाहतैतत्तदुदेवहेलनम्। बद्ध्वाञ्जलिं मूर्ध्न्यपनुत्तयेंऽहसः कृत्वा नमोऽधोवसनं प्रगृह्यताम्" यों उनका व्रत तो पूरा हुआ परन्तु उनका शुद्ध भाव देख भगवान् अति प्रसन्न हुए।

क्योंकि स्त्रियों का स्वभाव हैं कि सब कुछ का त्याग कर दे तो भी लज्जा का त्याग नहीं करती। परन्तु श्रीकृष्ण की आज्ञा पालन में उनों ने भारतमहिला की परमधनस्वरूप लज्जा को भी न रखा इस कारण भगवान् में उनका सर्वस्वात्मनिवेदन हुआ और सर्वस्वात्मनिवेदन ही शुद्धानुरागप्रवाह और भगवदनुग्रह का प्रधान सोपान है सो सर्वस्वात्मनिवेदन होने से, भगवान् के तोष के दो कारण हुए, क्योंकि एक तो प्रेम संवलित कर्मकाण्ड का अनुष्ठान हुआ ही था तिस पर सर्वात्मनिवेदनरूप नवम भक्ति का अनुष्ठान हुआ ॥

गोपियों का यही उद्देश्य था कि पतिरूप से श्रीकृष्णप्राप्ति हो सो श्रीकृष्ण नें स्वीकार किया ॥

इस से सर्व साधारण को यह भी उपदेश निकलता है कि पहले जीव की प्रवृत्ति कर्मकाण्ड की ओर होती है और होना उचित भी हैं, क्योंकि, गीता "न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते" और उस कर्मकाण्ड के साथ भगवत्प्रेम हो तो भगवान् स्वयं उसकी च्युति का शोधन कर अनुष्ठान को पूरा करते हैं (पातञ्जलसू० "समाधिसिद्धिरीश्वर-

प्रणिधानात्" और आत्मनिवेदनानुकूलवृत्तियों का उत्तेजन करते हैं, फिर अन्तःकरण निर्मल होता हैं और जीव भगवान् में सर्वार्पण करता है तो भगवत्प्राप्ति होती है और सर्वमनोरथावाप्ति होती है ।

श्रु० "सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता" ॥

प्र०(८) गोपियों ने कात्यायनी व्रत और भक्तिपूर्वक श्रीकृष्ण को पति मांगा सो ठीक है परन्तु परस्त्री का पतित्व श्रीकृष्ण ने क्यों स्वीकृत किया ?

उ० ॥ यह आधुनिक नीति के अनुसार लौकिक पुरुष को तो सर्वथा अनुचित हैं परन्तु भक्तिशास्त्र के अनुसार भगवान् को तो करना ही पड़ता है, क्योंकि भगवद्गीता में श्रीमुख का वचन है कि "ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ॥" श्रु० "यथा यथोपासते तदेव भवति तद्धैनान् भूत्वाऽवति" क्योंकि भगवान् के प्रतिरोम कोटि ब्रह्माण्ड हैं उन में एक ब्रह्माण्ड के एक लोक के एक खण्ड के कतिपय मनुष्यों के लिये जो मनुयाज्ञवल्क्यादिकृत उचितानुचित का विवेक है उस सूत्र से ईश्वर का बांधना तो सर्वथा स्पष्ट ही अनुचित है ॥ भक्ति

काण्डमें ता यहांतक है कि वसुदेव और नन्दने भगवान् को पुत्रस्वरूप मांगा ता पुत्र ही हे। के मिले पूतना ने दुग्ध पिलाने की कामना की ता उसका वही मनोरथ पूर्ण हुआ। सा यदि आत्मनिवेदनपूर्वक भगवत्प्राप्ति के अधिकार वाली गोपियों ने पतित्वेन श्रीकृष्ण का चाहा ता स्वीकार लिया दूसरी कोई बात भक्तिकाण्ड में ता प्राप्त नहीं है॥ और यद्यपि यह भगवत्प्राप्ति किसी प्रकार कामसंबद्ध है ता भी भगवद्विषय होने से यह काम बन्धजनक नहीं है। अतएव उसी समय भगवान्‌ने गोपियों से यों कहा कि "संकल्पो विदितस्साध्व्यो भवतीनां मदर्चनम्। मयानुमोदितः सोऽसौ सत्यो भवितुमर्हति ॥ २५ ॥
न मय्यावेशितधियां कामः कामाय कल्पते।
भर्ज्जिता क्वथिता धाना प्रायो बीजायनेष्यते॥२६॥
यातावला व्रजं सिद्धा मयेमा रंस्यथ क्षपाः।
यदुद्दिश्य व्रतमिदं चेरुरार्य्यार्च्चनं सतीः" ॥ २७ ॥
इसी बात की पोषक यज्ञवाट की कथा है। श्रीमद्भागवत में वेदव्यासजी ने (स्क०१० अ० २३ में) यह कथानक दिखलाया है कि किसी समय गोपबालक सहित कृष्णबलभद्र वन में बुभुक्षित हुए उन ने

गोपबालकों को समीपस्थ ब्राह्मणों के मण्डल में भेजा जो लोग बड़ी धूम से यज्ञ कर रहे थे। गोपों द्वारा श्रीकृष्णबलभद्र का समीप आगमन और भोजन मांगना सुन के भी उन अभिमानी ब्राह्मणों ने कुछ उत्तर न दिया। तब श्रीकृष्ण नें विप्रपत्नियों के पास सन्देश भेजा। वे दिनों से कृष्णचरित सुन सुन के सोत्कण्ठ थी, इस कारण संवाद पाते ही पक्वान्न ले ले के दौड़ पडीं और वन में आ सत्कारपूर्वक गोपमण्डलीसहित श्रीकृष्ण को भोजन कराया, तब श्रीकृष्ण नें घर फिर जाने को कहा। उस पर उन ब्राह्मणियों ने कहा कि "हम पति पुत्रादि का त्याग कर के आई हैं सो अब फिर जाने से कोई हमारा ग्रहण न करैंगे और अब हमारी स्वर्गादि गति भी न होगी सो हम आप के चरण में पड़ी हैं सो आप यथोचित विधान करैं॥ इस प्रकरण से यह स्पष्ट झलका कि श्रीकृष्ण के देखने की प्रबल उत्कण्ठा से वे आईं और फिर जाने में यही डर हुआ कि घर वाले कैसे लेंगे और यज्ञ करते हुए पति के त्याग से परलोक की क्या दशा होगी। भगवान् ने भी यह देख कर यही उत्तर दियो कि

चिन्ता न करो तुमारे पतिपुत्रादि भी मानपूर्वक तुमारा ग्रहण करैंगे और परलोक का भी भय मत करो और मेरी प्राप्ति चाहो तो स्मरण कीर्त्तनादिपूर्वक मुझ पर भाववृद्धि करो' ॥ इस रीति से सर्वसमर्पणशून्य अनधिकारिणी स्त्रियों का तो श्रीकृष्ण नें अङ्गीकार नहीं किया किन्तु साधनोपदेश कर कर के विदा किया और कृतसर्वसमर्पण सिद्ध गोपियों के अङ्गीकार की प्रतिज्ञा की ॥

यह प्रकरण श्रीमद्भागवत मे यों है ॥

भा० स्कं १० अ० २३

"श्रुत्वाऽच्युतमुपायातं नित्यं तद्दर्शनोत्सुकाः ।
तत्कथाक्षिप्तमनसो बभूवुर्ज्जातसंभ्रमाः ॥ १८ ॥
चतुर्विधं बहुगुणमन्नमादाय भाजनैः ।
अभिसस्रुः प्रियं सर्वाः समुद्रमिव निम्नगाः ॥ १९ ॥
निषिध्यमानाः पतिभिर्भ्रातृभिर्बन्धुभिः सुतैः ।
भगवत्युत्तमश्लोके दीर्घश्रुतधृताशयाः ॥ २० ॥
यमुनोपवनेऽशोकनवपल्लवमण्डिते ।
विचरन्तं वृतं गोपैः साग्रजं ददृशुः स्त्रियः ॥ २१ ॥
श्यामं हिरण्यपरिधिं वनमाल्यबर्ह,धातुप्रवालनटवेषमनुव्रतांशे ।

विन्यस्तहस्तमपरेण धुनानमब्जं, कर्णोत्पलालकक-
पोलमुखाब्जहासम् ॥ २२ ॥

प्रायः श्रुतप्रियतमोदयकर्णपूरैर्, यस्मिन् निमग्नमन-
सस्तमथाक्षिरन्ध्रैः ।
अन्तः प्रवेश्य सुचिरं परिरभ्य तापं, प्राज्ञं यथाभिम-
तयो विजहुर्नरेन्द्र ॥ २३॥

तास्तथा त्यक्तसर्वाशः प्राप्ता आत्मदिदृक्षया ।
विज्ञायाखिलदृग्द्रष्टा प्राह प्रहसिताननः ॥ २४ ॥
स्वागतं वो महाभागा आस्यतां करवाम किम् ।
यन्नो दिदृक्षया प्राप्ता उपपन्नमिदं हि वः ॥ २५ ॥
नन्वद्धा मयि कुर्वन्ति कुशलाः स्वार्थदर्शिनः ।
अहैतुक्यव्यवहितां भक्तिमात्मप्रिये यथा ॥ २६ ॥
प्राणबुद्धिमनःस्वात्मदारापत्यधनादयः ।
यत्संपर्कात् प्रिया आसन् ततः कोन्वपरः प्रियः॥२७॥
तद्यात साध्व्यो यजनं पतयो वो द्विजातयः ।
स्वसत्रं पारयिष्यन्ति युष्माभिर्गृहमेधिनः ॥ २८ ॥

(विप्रपत्न्य ऊचुः) मैवं वचोर्हति भवान् गदितुं नृशंसं,
सत्यं कुरुष्व निगमं तव पादमूलम् ।
प्राप्ता वयं तुलसिदाम पदावसृष्टं केशैर्निवोढुमति-
लंघ्य समस्तबन्धून् ॥ २९ ॥

गृह्णन्ति नो न पतयः पितरौ सुता वा न भ्रातृबन्धु-
सुहृदः कुत एव चान्ये ।
तस्मात् भवत्प्रपदयोः पतितात्मनां नो, नान्या भवेद्गति-
रिरिंदम तद्विधेहि ॥ ३० ॥
(श्रीभगवानुवाच) पतयो नाभ्यसूयेरन् पितृभ्रातृसुतादयः ।
लोकाश्च ये मयोपेता देवा अप्यनुमन्वते ॥ ३१ ॥
न प्रीतयेऽनुरागाय ह्यङ्गसङ्गो नृणामिह ।
तन्मनो मयि युञ्जाना अचिरान्मामवाप्स्यथ ॥ ३२॥
स्मरणाद्दर्शनाद् ध्यानान्मयि भावोऽनुकीर्तनात् ।
न तथा सन्निकर्षेण प्रतियात ततो गृहान् ॥ ३३ ॥

इस से यह स्पष्ट हुआ कि कृतसर्वनिवेदन का अङ्गीकार करना और यथोचित साधनसहित भक्त का वाञ्छितपूरण करना भगवान् का स्वभाव है सो ही किया ॥ पूर्वप्रकरण में जो २३ वां श्लोक भगवान् नें यज्ञपत्नियों से कहा था ठीक वही श्लोक पञ्चाध्यायी अ० २८ में २७ वां है पर इसे सुन गोपियां इतनी दुःखित हुईं कि वहीं प्राण देने को तयार हुईं जैसे श्लो० ३५ "नो चेद् वयं विरहजाग्न्युपयुक्तदेहा ध्यानेन याम पदयोःपदवीं सखे ते" और वही सुन यज्ञपत्नी लौट गईं इस से स्पष्ट है कि भगवान ने अनुरागिणियों का अङ्गीकार किया भेद इतना ही है कि वहां "अवगाद्" पाठ है ॥

प्रश्न (६) श्रीकृष्णने गोपियों के संग बिहारकिया सो यह तो सर्वथा अनुचितव्यवहार हुआ क्यों कि (क) भगवान को विषयासक्ति शोभित नहीं, (ख) पूर्ण पुरुषोत्तम को पापकर्म उचित नहीं, (ग) स्वभक्त गोपीजन को निन्दित कर्म में नियुक्त करना न्याय नहीं और (घ) जिन भगवान ने गीता में अर्जुन से ऐसे कहा है कि ॥ "मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः" ॥ और "यद्यदाचरति श्रेष्ठ." उन्ही भगवान के परदाराऽभिमर्षणरूप आचरण लोक को दुष्प्रवृत्ति के जनक होंयगे इस से ऐसे कर्मों का अनुष्ठान धर्म नहीं॥

(उत्तर)पूर्वोक्त प्रश्न में श्रीकृष्ण भगवान का गोपियों के संग विहारादि लीलाओं पर आक्षेप किया गया है और उस आक्षेप के साधक चार दोष रखेहैं सो माधुर्य-प्रधान भक्ति के अनधिकारी होने से ही ऐसी शंकाओं का उद्भव होता है और इसी से माधुर्यप्रधान विषयों को अधिकारियों के आगे ही प्रकाशित करना सांप्रदायिकों का सिद्धान्त है ॥ सो यद्यपि इन लीलाओं का वास्तविक दिव्य रसास्वाद तो अनुराग के प्रादुर्भाव होने से ही

होता है तथापि विनोदार्थ पूर्वोक्तप्रश्नघटक युक्तियों का उत्तर दिया जाता है ॥

(क) विहारलीला की अनुचितता की साधक प्रथम युक्ति यह है कि, भगवान की विषयासक्ति शोभित नहीं' अर्थात् प्रश्नकर्त्ता ने भगवान की विषयासक्तिमूलक ही विहार लीला समझी है, इस से विषयाशक्ति को दूषित समझ के उन लीलाओं में दोषारोप किया है, परन्तु यह सर्वथा असङ्गत है, क्यों कि पूर्णकाम पुरुषोत्तम ने केवल जीवों पर अनुग्रह करके ही अवतारग्रहण किया है और ऐसी लीला की हैं जिनके श्रवण से मुक्त मुमुक्षु, विषयी यों सभी प्रकार के जीवों के चित्त का आकर्षण हो, जैसे भा० स्क० १० अ० ३३ श्लोक ३७ "अनुग्रहाय भूतानां मानुषं देहमास्थितः । भजते तादृशीः क्रीडा याः श्रुत्वा तत्परो भवेत्" ॥ और अ० १ "निवृत्ततर्षैरुपगीयमानाद् भवौषधाच्छ्रोत्रमनोऽभिरामात् । क उत्तमश्लोकगुणानुवादात् पुमान् विरज्येत विनानं पशुघ्नात्" ॥ इत्यादि । सो घनानन्दमय परमात्मा को तो विषयासक्ति की सम्भावना ही नहीं अत एव

श्रीशुकाचार्य्य ने पदे पदे कहा है कि "आत्मारामोऽप्यरीरमत्" "रेमे तया चात्मरत आत्मारामोऽप्यखण्डितः" "सिषेव आत्मन्यवरुद्धसौरतः" "रेमे स्वयं स्वरतिरत्रगजेन्द्रलीलः" "यथार्भकः स्वप्रतिबिम्बविभ्रमः" इस से स्वयं विषयासक्ति की कल्पना करके इस शंका के आविर्भाव करने से प्रश्नकर्त्ता उन्मत्तवदुपेक्षणीय हैं॥ यदि कहो कि श्रीकृष्ण के नृत्यादि ही से उन की आसक्ति का अनुमान होता है क्योंकि अनासक्त पुरुष कदापि तरुणीमण्डल की सङ्ग नृत्यादि में नहीं प्रवृत्त होता है क्योंकि उसको इन्द्रियारामरूप कोई प्रयोजन नहीं रहता है और "प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोपि प्रवर्त्तते"। और विहार में प्रवृत्ति उन्हीं को होती है जिनको विषयासक्ति होती है इससे श्रीकृष्ण की रासलीला में प्रवृत्ति ही विषयासक्ति की गमक है॥ इस तर्क का उत्तर ऐसे समझना कि यह आक्षेप अवतार पर कभी हो ही नहीं सकता क्योंकि अवतारों की लीलात्मक प्रवृत्ति यों को लौकिक रागद्वेषादिमूलकविषयवासनाप्रयुक्त मानें तो विहारलीला ही पर क्या आक्षेप है लीलामात्र ही विषयासक्ति की गमक ठह-

रेगी और अवतारमोक्ष में विषयासक्तिरूप दोष ठहरने से सब अवतारों में जीवत्व ही सिद्ध होगा कोई अवतार में यथोचित अवतारत्व नहीं आवेगा। इस से यही सिद्धान्त यथार्थ है कि भगवान की लीलात्मक प्रवृति रागद्वेषात्मक विषयवासना की गमक नहीं हो सकती हैं॥ और यह तो जगत्प्रसिद्ध बात है कि सृष्टिकर्ता परब्रह्म हैं, सो यदि प्रवृत्ति को विषयवासना की गमक मानैं तो सृष्ट्युत्पादनप्रवृति लेके परब्रह्म में भी विषयवासना सिद्ध होगी। और यदि कहो कि यह अनुमान जीवविषयक है परब्रह्मविषयक नहीं तब तो रामकृष्णाद्यवतार में भी पूर्वोक्त आपत्ति देना असंगत है क्यों कि अवतार तो साक्षात् परब्रह्म स्वरूप ही हैं जीव नहीं है॥

ख) विहारलीला की अनुचितता की साधक द्वितीय युक्ति यह रखी है कि पूर्ण पुरुषोत्तम को पापकर्म उचित नहीं॥ परन्तु यह आक्षेप पूर्ण पुरुषोत्तम पर नहीं हो सक्ता है, क्योंकि विषयवासनाजन्य कर्मों की पाप पुण्य संज्ञा है, और विषयवासना तो प्रभु मे संभव ही नहीं है यह प्रथम आक्षेप

(क) की समालोचना में भलीभांति निरूपण कर चुके हैं। इस से विषयवासना और विषयप्रवृत्ति न रहने के कारण भगवत् कृत कर्मों में पापत्व पुण्यत्व का लेश भी नहीं है और अत एव भगवत्कृत कर्म को पापपुण्यस्वरूप मान के पूर्वोक्त आक्षेप करना सर्वथा भ्रममूलक है॥

पाप पुण्य के वासनामूलक होने में प्रमाण॥

गीता अ० ४१ श्लो० १९-२०-२१-२२ "यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः॥ ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः॥ त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः॥ कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः॥ निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्व्वपरिग्रहः॥ शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥ यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः॥ समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते"॥

तथा श्री भा० स्क० १० अ० ३३ श्लोक ३०-३१ ३२-३३-३४-३५-३६ "श्री शुक उवाच। धर्मव्यतिक्रमो दृष्ट ईश्वराणां च साहसम्॥ तेजीयसां न दोषाय वह्नेः सर्वभुजो यथा॥ नैतत्समाचरेज्जातु मनसाऽपि ह्यनीश्वरः॥ विनश्यत्याचरन् मौढ्याद्यथा रुद्रोऽब्धिजं

विषम्॥ ईश्वराणां वचः सत्यं तथैवाऽऽचरितं क्वचित्॥ तेषां यत्स्ववचो युक्तं बुद्धिमांस्तत्समाचरेत् ॥ कुश-लाचरितेनैषामिह स्वार्थो न विद्यते । विपर्ययेण वाऽ नर्थो निरहंकारिणां प्रभो ॥ किमुताखिलसत्त्वानां तिर्यङ्मर्त्यदिवौकसाम् ॥ ईशितुश्चेशितव्यानां कुश-लाकुशलान्वयः॥ यत्पादपङ्कजपरागनिषेवतृप्ता योगप्र-भावविधुताखिलकर्मबन्धाः।स्वैरं चरन्ति मुनयोऽपि न नह्यमानास्तस्येच्छयात्तवपुषः कुत एव बंधः॥गोपीनां तत्पतीनां च सर्वेषामेव देहिनाम्। योऽन्तश्चरति सोऽ ध्यक्षः क्रीडनेनेह देहभाक्,,॥तथा भा०स्कं०११श्लो० १ श्री भगवानुवाच ॥ "बद्धो मुक्त इति व्याख्या गु-णतो मे न वस्तुतः॥ गुणस्य मायामूलत्वान्न मे मोक्षो न बन्धनम्" इस से यह सिद्ध हुआ कि प्राकृत-वासनारहित स्वतन्त्र पूर्णपुरुषोत्तम के चरित में पाप पुण्य की आशंका कर के आक्षेप करना सर्वथा अज्ञानविजृम्भण है ।

(ग) विहार लीला की अनुचितता की साधक तृतीय युक्ति यह रखी है कि स्वभक्त गोपीजन को निन्दित कर्म में नियुक्त करना न्याय नहीं ॥ इसका प्रथम उत्तर तो यह है कि भगवान् ने गोपियों को

बिहार के लिये नियोजन नहीं किया प्रत्युत "रजन्येषा घोररूपा' इत्यादि श्लोकों से गोपियों को समझाया परन्तु गोपियों की बिहार की ही अति उत्कण्ठा देख के वरदराट् भगवान ने उनके मनोरथ पूर्ण किये ॥ और दूसरा उत्तर यह है कि कोई रीति से प्रभु के संमुख होना निन्दित कर्म नहीं है प्रत्युत मोक्षजनक है जैसे श्री भा० "गोप्यः कामाद्भयात्कंसः" स्कं १० श्लोक ४५ अ० ३ "युवांमां पुत्रभावेन ब्रह्मभावेन वाऽसकृत् ॥ चिन्तयन्तौकृतस्नेहौ यास्येथे मद्गतिं पराम्" ॥ स्क० १० अ० २९ श्लो० १३ श्री शुकउवाच ॥ "उक्तं पुरस्तादेतत्ते चैद्यः सिद्धिं यथा गतः ॥ द्विषन्नपि हृषीकेशं किमुताधोक्षजप्रियाः॥इत्यादि॥अर्थात् न तो गोपियोंको प्रभु नें नियुक्त ही किया और न प्रभु के साथ विहार निन्दित ही है इससे पूर्वोक्त आक्षेप असङ्गत है॥ और गोपियों को साधारण गोपकन्या समझ के ऐसे प्रश्नों का उद्भव होता है परन्तु वस्तुतः गोपी साधारण गोपकन्या नहीं है किन्तु साक्षात् श्रुति हैं। और इन ने सगुण ब्रह्म पूर्णपुरुषोत्तम के संग बिहार ही करने के लिये गोपीरूप ग्रहण किया है इस

से इन की शुद्धानुरागपूर्वक भगवान् में अनुरक्त होना और उन पर पतिभाव कर के उन के संग विहार करना दूषण नहीं किन्तु भूषण है यह कथा सविस्तर ब्रह्मवैवर्तपुराण के उत्तर खण्ड में है ॥

और नाना गोपी भगवच्छक्ति स्वरूपभी हैं॥जैसे ॥ आथर्वणवासुदेवोपनिषद् 'गोप्यो नाम' यहां से लेके 'चन्द्रकं गोपीचन्द्रनम्' यहां तक।

तथा श्री भा० स्कं० १० "ताभिर्विधूतशोकाभिर्भगवानच्युतो वृतः। व्यरोचताधिकं तात पुरुषः शक्तिभिर्यथा॥

इस पर यह शंका नहीं करनी कि उन प्रकृति महदादि शक्तियों का मूर्त्तिमान् होना कैसे संभव है? क्यों कि जैसे शब्दों की तो मूर्त्ति नहीं होती है तथापि शब्दसमुदायस्वरूप वेदों का मूर्त्तिमान् होना श्री भागवत में कहा है जैसे "वेदा यथा मूर्तिधरास्त्रिपृष्ठे" और ब्रह्मा ने भी आत्मा प्रकृति महत्तत्व अहंकार काल स्वभाव कर्म और प्रकृति को वत्सहरण के प्रकरण में मूर्तिमान् देखा जैसे भा० स्कं० १० अ० १३ श्लोक ५१-५२-५३ "आत्मादिस्तंबपर्यन्तैर्मूर्तिमद्भिश्चराचरैः॥ नृत्यगीताद्यनेकार्हैः पृथक्

पृथगुपासिताः ॥ अणिमाद्यैर्महिमभिरजाद्याभिर्विभूतिभिः।चतुर्विंशतिभिस्तत्त्वैः परीता महदादिभिः॥ कालस्वभावसंस्कारकामकर्मगुणादिभिः ॥ स्वमहिध्वस्तमहिभिर्मूर्तिमद्भिरुपासिताः"॥तथा अक्रूर ने यमुना में समस्त शक्तियों से सेव्यमान भगवान् का दर्शन किया इत्यादि।

और नाना गोपी देवी हैं जिन ने केवल प्रभु की मधुर लीला ही के लिये गोपीस्वरूप ग्रहण किया है जैसे श्री भा० स्कं० १० श्लो० २३ "वसुदेवगृहे साक्षाद् भगवान् पुरुषः परः। जनिष्यते तत्प्रियार्थं सम्भवन्तु सुरस्त्रियः" ॥

इस से गोपीजन को साधारण गोपपत्नी समझ के जो यह आशंका की सो गोपी साधारण गोपपत्नी नहीं हैं किन्तु केवल विहारार्थ प्रगट भई श्रुति शक्ति तथा देवी हैं ॥

फलितार्थ यह हुआ कि न तो प्रभु ने विहार में उन को नियुक्त किया और न उनका मनोरथ पूरण करना अनुचित ही भया क्योंकि भगवान् तो कल्पवृक्षवत् वरदराट् हैं और न ये गोपी साधारण गोप कन्यास्वरूप मानुषी ही हैं किन्तु प्रभु की ही दिव्य-

शक्ति श्रुति तथा देवी स्वरूप हैं ॥

भगवान् के कल्प वृक्षवत् वरद होने में प्रमाण भा० स्कं० ६ "न तस्य कश्चित् दयितः सुहृत्तमो न च प्रियो द्वेष्य उपेक्ष्य एव च । तथापि भक्तान् भजते तथा यथा सुरद्रुमो यद्वदुपाश्रितोऽर्थदः" ॥

(घ) विहार लीला की अनुचितता की साधक चतुर्थ युक्ति यह है कि जिन भगवान् ने गीता में अर्जुन से ऐसे कहा है कि "यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः । स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते" तथा "मम वर्त्मानुवर्त्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः" उन्हीं भगवान् के परदाराऽभिमर्षणरूप आचरण लोक की दुष्प्रवृत्ति के जनक होंगे इस से ऐसे कर्मों का अनुष्ठान धर्म नहीं ॥ इस का उत्तर ऐसे समझना कि अवतारों के वे ही आचरण सर्वसाधारण के आचरणीय होते हैं जो धर्मशास्त्र के अनुकूल हों परन्तु जिन में प्रतिकूलता की आशंका होती है वे आचरण जीव के कथमपि कर्तव्य नहीं हैं । जैसे पृथ्वी को भारस्वरूप समझ के भगवान् ने स्वयं स्वकुल के नाश की इच्छा की और स्वयमेव साम्ब को शाप दिवा के स्वकुल का नाश किया प-

रन्तु यह कार्य और के करने का नहीं है ॥ और शिव समस्त सृष्टि का संहार ही कर डालते हैं परन्तु उनका अनुकरण अल्पमात्र भी दूसरे को कर्तव्य नहीं है ॥ अतएव श्री भा० स्कं० १० अ० ३३ श्लो० ३० ३१ ३२ श्रीशुक उवाच ॥ "धर्मव्यतिक्रमो दृष्ट ईश्वराणां च साहसम् ॥ तेजीयसां न दोषाय वन्हेः सर्वभुजो यथा,, ॥ "नैतत्समाचरेज्जातु मनसाऽपि ह्यनीश्वरः। विनश्यत्याचरन् मौढ्याद्यथारुद्रोऽब्धिजं विषम्" ॥ ईश्वराणां वचः सत्यं तथैवाऽऽचरितं क्वचित्। तेषां यत्स्ववचो युक्तं बुद्धिमांस्तत्समाचरेत्" ॥ अर्थात् जो प्रभु का उपदेश है वही धर्म है और उन के आचरण में भी जो उन के उपदेशानुकूल है वही धर्म है तद्विरुद्ध आचरण हो तो भी जीव के लिये वह धर्म नहीं है। अतएव मीमांसा दर्शन में महर्षि जैमिनि नें धर्म का लक्षण ऐसे कहा है ॥

"चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः" और मनु, येनास्य पितरो याता येन याताः पितामहाः" इत्यादि वचन का भी यही तात्पर्य है कि विधि वाक्यों के अप्रतिकूल विषयों में सदाचार का ग्रहण करना न कि प्रति कूल

में। और यह ठीकही है क्योंकि अवतार में ऐश्वर्य और मानुष दोनों भाव मिले रहते हैं, सो मानुषभावप्रधान लीला का तो अनुसरण करना परन्तु ऐश्वर्यप्रधान तो मनुष्य के लिये सर्वथा असाध्य है॥ और कृष्णावतार में ऐश्वर्य इतना परिपूर्ण है कि बात बात में झलकता है सो कृष्णलीला के अनुकरण की तो इच्छा भी न करना॥

प्रश्न (६) जिन गोपियों की भक्ति की पुराण, भक्तिमीमांसा, नारदपञ्चरात्र, शाण्डिल्य संहिता, प्राभृति अनेक प्रामाणिक ग्रन्थों में अत्यन्त प्रशंसा है यहां तक कि उन को प्रेमलक्षणा भक्ति की प्रथम उदाहरणस्वरूप कहा हैं उन्हीं गोपियों को अनुराग के सहचरित कामवासना का रहना अनुचित देख पड़ता है॥

उत्तर-जहां जहां गोपियों का भक्ति में उदाहरण दिया जाता है तहां उनका प्रेमांश ही लेके उदाहरण है न कि कामांश लेके और यह तो अवश्य ही है कि यदि ईदृश परमप्रेम के सहचरित इतना सा कामांश भी न रहता तो यह प्रेम और भी प्रशंसनीय होता। परन्तु यह भी समझना चाहिये

कि गोपियों का काम लौकिक काम सदृश नहीं था क्योंकि भगवद्विषयक था और भगवद्विषयक काम क्रोधादि सभी प्रशंसनीय हैं और भगवद्विषय होने पर भी भगवान के पूर्णब्रह्मत्वज्ञानपूर्वक तथा अनुरागप्रधान होने से गौणभूत काम भी अनुराग साधक होने से प्रशंसनीय है और यदि कामवासना कुब्जा में,—[“माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोऽधिकः। स्नेहो भक्तिरितिप्रोक्तस्तया मुक्तिर्न चान्यथा”॥ (नारद पञ्चरात्रे) - माहात्म्यज्ञान तथा अनुराग से रहित थी और केवल इन्द्रियलोलुपताप्रयुक्त थी अतएव श्री शुकाचार्य ने घृणा पूर्वक कहा है कि “दुर्भगेदमयाचत” और गोपियों को प्रभु का पूर्ण माहात्म्यज्ञान था जैसे भा० स्कं० १० अ० ३१ श्लो० ४ “न खलु गोपिकानन्दनो भवानखिलदेहिनामन्तरात्मदृक्। विखनसाऽर्थितो विश्वगुप्तयेसख उदेयिवान् सात्वतां कुले” ॥“ व्यक्तं भवान् व्रजजनार्ति···प्रेष्ठो भवांस्तनुभृतां·········“मृगयुरिव’ इत्यादि पञ्चाध्यायी वेणुगीत प्रभृति में स्पष्ट है अतएव नारदसूत्र २१, २२, २३। हैं “ यथा व्रजगोपिकानाम्। नतत्रापि माहात्म्यज्ञानविस्मृत्यपवादः। तद्विहीनं

जाराणामिव" ॥ गोपियों का अनुराग तो प्रधान था ही और उन का कामांश भी धीरे धीरे अनुराग रूप ही से परिणत हो गया था इस से गोपियों का अनुराग सर्वप्रधान गिना जाता है ॥ अर्थात् किञ्चित् कामसम्बन्ध लेके ही तो यह कथन है कि "क्वेमाः स्त्रियो वनचरीर्व्यभिचारदुष्टाः" "स्त्रीणां स्वैरदुरात्मनाम्" तथा "गोप्यः कामात् इत्यादि और प्रबल अनुराग प्रवाह लेके यह कथन है कि "वन्दे नन्दव्रजस्त्रीणां पादरेणुमभीक्ष्णशः" इत्यादि।

और जिस समय वंशीनाद सुन के प्रभु के समीप सब गोपियां उपस्थित भईं उस समय भगवान् ने भी कामांश के विषय में असन्तोष पूर्वक उपदेश किया और अनुरागके विषय में सन्तोष प्रगट किया परन्तु इस रीति का स्पष्ट उत्तर सुन के जब अत्यन्त विकल होके गोपियों ने प्रार्थना की तब भगवान् ने केवल उनकी विकलता देख अनुराग को काम से उत्कट समझ और काम को अनुराग रूप से परिणत देख दया कर के उन के सङ्ग रासक्रीड़ा करी अ० २९ श्लो० ४२, "इति विक्लवितं तासां श्रुत्वा योगेश्वरेश्वरः। प्रहस्य सदयं गोपीरात्मारामोऽप्यरी-

रमत् ॥" इस से जिस समय गोपियों का कामांश भी अनुराग रूप से परिणत हो गया तब उस तात्पर्य से गोपियों की जितनी प्रशंसा की जाय उतनी थोड़ी है ॥

इस को विशद रीति से ऐसे समझना कि गोपियों की प्रभु पर काम और अनुराग दोनों प्रकार की वृत्तियों से प्रेरित होकर गोपियों ने कात्यायनी का अर्चन किया और यह वर मांगा कि अ० २२ "नन्दगोपसुतं देवि पतिं मे कुरु ते नमः" अनन्तर उन के भाव की परीक्षा करने को भगवान् ने चीरहरण किया परन्तु उस समय उन का शुद्धभाव देख के भगवान बहुत प्रसन्न भये जैसे 'भगवानाह ता वीक्ष्य शुद्धभावप्रसादितः,। फेर वही शुद्धभाव देख के यह वरदान दिया कि 'संकल्पो विदितः साध्व्यो भवतीनां मदर्चनम्। मयानुमोदितः सोऽसौ सत्यो भवितुमर्हति' फेर भगवान ने उनके कामांश के विषय में ऐसे उपदेश किया कि "न मय्यावेशितधियां कामः कामाय कल्पते। भर्जिता क्वथिता धाना प्रायो बीजाय नेष्यते' इसके अनन्तर भी उनकी काम और अनुराग से मिश्रित वृत्ति देख के आप ने यह वर-

दान दिया कि "यातावला ब्रजं सिद्धा मयेमा रंस्यथ च्तपाः । यदुद्दिश्य व्रतमिदं चेरुरार्याचनं सतीः' ॥ अनन्तर जब भगवान् का वंशीनाद सुनके सब गोपिका उपस्थित हुईं तब प्रभु ने उनको कामवृत्ति के विषय में उपदेश किया और स्नेहांश की प्रशंसा की जैसे कामवृत्ति के विषय में अ० २९ श्लो० २४, २५ २६ भर्तुः शुश्रूषणं स्त्रीणां परो धर्मो ह्यमायया । तद्बन्धूनां च कल्याण्यः प्रजानां चानुपोषणम् ॥ दुःशीलो दुर्भगो वृद्धो जडो रोग्यधनोऽपिवा । पतिः स्त्रीभिर्न हातव्यो लोकेप्सुभिरपातकी ॥ अस्वर्ग्यमयशस्यं च फल्गु कृच्छ्रं भयावहम् । जुगुप्सितं च सर्वत्र औपपत्यं कुलस्त्रियाः" ॥ और स्नेहांश प्रशंसा में श्लो० २३, २७ 'अथवा मदभिस्नेहाद् भवन्त्यो यन्त्रिताशयाः आगताह्युपपन्नं वः प्रीयन्ते मयि जन्तवः' ॥ 'श्रवणाद् दर्शनाद् ध्यानान्मयि भावोऽनुकीर्तनात् । न तथा सन्निकर्षेण प्रतियात ततो गृहान्' ॥ इस के अनन्तर जब गोपी अत्यन्त विकल हो के रोदनपूर्वक विलाप करने लगी जैसे श्लो० २८ से ४१ तक ॥ तब भगवान् उनके अनुराग का प्राधान्य देखके और उनकी विकलता पर दया कर के तथा इतने अनुराग रहते

भी किञ्चित्कामांश है इस पर हंस के उन का अङ्गीकार किया जैसे श्लो० ४२ 'इति विक्लवितम् तासां दृष्ट्वा योगेश्वरेश्वरः॥ प्रहस्य सदयं गोपीरात्मारामोऽप्यरीरमत्॥" इत्यादि॥ परन्तु वह कामांश यद्यपि भगवद्विषय है इस से लौकिक काम की अपेक्षा उत्तम है तथापि शुद्धानुराग की दृष्टि से प्रभु ने उसको त्याज्य समझा इस लिये "विषस्य विषमौषधम्" इस न्याय से तदङ्ग का ही उपचार किया जैसे श्लो० ४६ * "बाहुप्रसार" इत्यादि॥ और इस रीति के विहार से यह परीक्षा भी कर ली कि इस समय तो अनुराग के गाढ़े उद्गार से अहंकार और काम नहीं जान पड़ता है परन्तु यदि इन के हृदय में छिपे भये भी बीज हों तो उनका भी नाश कर के गोपियों का अनुराग निष्कलङ्क करना॥ अतएव इसी श्लोक के आगे कहा है कि गोपियों को तत् क्षण काम और अभिमान का प्रादुर्भाव हुआ परन्तु भगवान् कामाभिमानप्रिय नहीं है इससे उसी समय अन्तर्हित होगये जैसे श्लो० ४७॥ 'तासां तत्सौभगमदं वीक्ष्यमानं च केशवः॥ प्रशमाय प्रसादाय

* कोई कोई इस श्लोक को क्षेपक भी कहते हैं

तत्रैवान्तरधीयत'॥ भगवान के अन्तर्हित होने पर क्रमशः गोपियों का मान और काम घटने लगा और महात्म्यज्ञानपूर्वक अनुराग बढ़ने लगा॥ यहांतक कि जब ढूंढ चुकी, अनुकरणलीला कर चुकी तथा गुणगान कर चुकीं, और इतने पर भी प्रभु का दर्शन नहीं हुआ तब काम और अभिमान निःशेष नष्ट हो गया और तब गोपी निःसाधन हो आत्मविस्मरणपूर्वक रोदन करने लगी तब भगवान उस शुद्ध प्रेम से आकृष्ट होके स्वयं गोपीमण्डल के मध्य में प्रगट भये॥ उसके अनन्तर जब गोपियों ने भगवान से प्रश्न किया तब भगवान ने नीतिमय उत्तर में अनुराग ही को प्रधान रख के कहा कि अ० ३२ श्लो० २०"नाहन्तु सख्यो भजतोऽपि जन्तून् भजाम्यमीषामनुवृत्तिवृत्तये। यथाधनो लब्धधने विनष्टे तच्चिन्तयान्यन्निभृतो न वेद'॥ इत्यादि। इस के अनन्तर गोपियों का काम तथा अभिमान रहित शुद्धानुराग प्रवाह ही रहा तव भगवान् ने गोपियों के संग दिव्य रासक्रीड़ा का प्रादुर्भाव किया और अब यहां से केवल शुद्धानुरागमय लीला का आरंभ हुआ। इसी से देवताओं ने भेरी बजाई और पुष्प-

वृश्चिकर के गान किया औ इसी प्रकरण में गोपियों को स्त्रीरत्न तथा कृष्णवधू पदों से श्री शुकाचार्य ने कथन किया है॥

इस रीति से ईदृश शुद्धानुराग होने पर भक्त गोपी प्रेमी मात्र को शिरोधार्य हुई॥ और जो गोपियों मे कामांश की आशङ्का है अथवा किञ्चिन्मात्र भी लौकिकता का कथन है सो प्रभु के अन्तर्हित होने के पहले ही के प्रकरण में कथन है और सो ठीक ही है क्योंकि प्रभु को भी वह काम भाव अङ्गीकृत नहीं हुआ और जितने प्रशंसा वचन हैं सो भगवान के अन्तर्धान के अनन्तर प्रगट होने के आगे के प्रकरण के हैं सो भी यथोचित ही हैं गोपियों की इन पूर्वापर दोनों अवस्थाओं का क्रम बिना समझे भ्रममूलक नाना शङ्काओं का उदय होता है परन्तु इस रीति के रहस्य समझने से गोपियों की उत्तरावस्था के शुद्धानुराग का लोकविलक्षणत्व प्रगट होता है॥

प्र० ११। जब परब्रह्म पूर्णरूप से अवतार हो के आगये तो उधर शून्य बच जायगे। और कला वा अंशरूप से इधर आये तो उधर भी खण्डित

रहेंगे । यह कैसा ?

उत्तर । पूर्वार्द्ध के पठन से यह शङ्का तो नहीं उदित हो सकती तथापि कोई बाललीला करे तो उसे यों समझना चाहिये कि सब गणित एक प्रकार के नहीं होते । लोक में ही देखो शून्य गणित कैसा विलक्षण है कि शून्य में चाहे कितने ही शून्य जोड़ दीजिये वह बढ़ेगा नहीं, शून्य में से शून्यपाद, शून्यार्द्ध, अथवा पूर्ण शून्य चाहे जितना और चाहे जै बेर निकालिये बचे शून्य में कुछ भी भेद न आवेगा । अनन्त में से सौ दो सौ लाख करोड़ चाहे जितना निकाल डालिये बचे में क्या भेद पड़ता है । एक दीप में से लाखों दीप-ज्योति बाल के निकाल लीजिये पूर्व प्रकाश में अन्तर न आवेगी । एक ज्ञानी से लाखों पुरुष ज्ञान लाभ करें परन्तु उसके ज्ञान की घटी नहीं होती । वैसे ही जगद्विलक्षण ब्रह्म का भी यह विलक्षण स्वभाव है कि उस में से चाहे जितने अवतार हों वह ज्यों का त्यों रहता है । अतएव वेद में लिखा है कि "पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते" ।

प्र० १२। ब्रह्म का प्रादुर्भूत हो कर अन्नवत् व्यवहार करना कहीं वेद में भी है कि नहीं?

उ०। है। सामवेदीय तलवकारोपनिषद् खण्ड ३। 'ब्रह्म ह देवेभ्यो विजिग्ये तस्य ह ब्रह्मणो विजये देवा अमहीयन्त त ऐक्षन्तास्माकमेवायं विजयोऽस्माकमेवाऽयं महिमेति तद्धैषां विजज्ञौ तेभ्यो ह प्रादुर्बभूव तन्न व्यजानन्त किमिदं यक्षमिति॥१५।२॥ तेऽग्निमब्रुवन् जातवेद एतद्विजानीहि किमेतद् यक्षमिति तथेति ॥१६।३॥ तदभ्यद्रवत् तमभ्यवदत् कोऽसीति अग्नि र्वाऽहमस्मीत्यब्रवीज्जातवेदा वा अहमस्मीति॥१७। ॥४ अस्मिंस्त्वयि किं वीर्य्यमित्यपीदं सर्वं दहेयं यदिदं पृथिव्यामिति॥१८।५॥ तस्मै तृणं निदधावेतद्दहेति, तदुपप्रेयाय सर्वजवेन तन्न शशाक दग्धुं स तत एव निववृते नैतदशकं विज्ञातुं यदेतद्यक्षमिति ॥१९।६॥ अथवायुमब्रुवन् वायवेतद् विजानीहि किमेतद् यक्षमिति तथेति॥२०।७॥ तदभ्यद्रवत् तमभ्यवदत् कोऽसीति, वायुर्वा अहमस्मीत्यब्रवीन्मातरिश्वा वा अहमस्मीति॥२१।८॥ तस्मिंस्त्वयि किं वीर्य्यमित्यपीदं सर्वमाददीयं यदिदं पृथिव्यामिति॥ २२।९॥ तस्मै तृणं निदधावेतदादत्स्वेति तदुप-

प्रयाय सर्वजवेन तन्न शशाकादग्धुं स तत एव निववृते नैतदशकं विज्ञातुं यदेतद्यक्षमिति' ॥ २३ । १० ॥ इत्यादि इस प्रकरण से स्पष्ट विदित होता है कि जब देवताओं को अभिमान हुआ तब परब्रह्म यक्षरूप से प्रादुर्भूत हुए। देवता लोग न समझ सके कि यह कौन है तब उन ने अग्नि से कहा कि देखो समझो तो यह कौन है। अग्नि उनके समीप गया तो ब्रह्म ने अग्नि से पूछा "तुम कौन हो?" अग्नि ने अपना नाम कहा तब ब्रह्म ने पूछा "तुम में क्या सामर्थ्य है", उसने कहा "मैं सब कुछ को दग्ध कर सकता हूं"। तब ब्रह्म ने एक तृण रख के कहा "इसे जलाओ", पर उसने कितना ही बल लगाया परन्तु न जला सका। तब फिर आया और बोला मैं नहीं समझ सका। तब देवताओं ने वायु को भेजा उस से भी ब्रह्म ने नाम और सामर्थ्य पूछा उसने अपना नाम कहा और सब कुछ उड़ाने का सामर्थ्य बतलाया (क्या ब्रह्म उनका नाम औ सामर्थ्य नहीं जानते थे कि अज्ञवत् पूछने लगे ?? नहीं यह लीला है। ऐसा ही रामादि का भी हनुमान आदि से नामादि पूछकर

अन्नवत् व्यवहार करना लीलाका भूषण है दूषण नहीं) ब्रह्म ने कहा इस तृण को उड़ाओ पर वायु ने कितनी ही कला खेली परन्तु उड़ा न सका। तब फिर आया और बोला " मैं इसे नहीं समझ सका"॥ यह लम्बा प्रकरण है। ऐसे ही अनेक देवताओं का आना और ब्रह्म से आलाप करना है

प्र० १३। वेद के मन्त्र अथवा ब्राह्मण भाग में कहीं किसी अवतार का यथाक्रम सविस्तर वर्णन भी है ?

उ०। है देखो शतपथ ब्राह्मण में छ कण्डिकाओं से मत्स्यावतार का निरूपण है। कण्डिका,-"मनवे ह वै प्रातः अवनेग्यमुदकमाजह्रुः। यथेदं पाणिभ्यामवनेजनायाहरन्ति, एवं तस्य अवनेनिजानस्य मत्स्यः पाणी आपेदे,,।१।

स ह अस्मै वाचमुवाच, बिभृहि मा पारयिष्यामित्वा कस्मान्मां पारयिष्यसि ? इति औघ इमाः सर्वाः प्रजा निर्वोढा यतस्त्वा पारयिताऽस्मि इति। कथं ते भृतिरिति स ह उवाच, यावद्वै क्षुल्लका भवामो बह्वीवैनस्तावद् नाष्ट्राभवति उतमत्स्यएव मत्स्यं गिलति कुम्भ्यां मा अग्रे बिभरासि। स यदा तामतिवर्धै

अथ कार्षू खात्वा तस्यां मां बिभरासि, यदा तामतिवर्धै अथ मा समुद्रमभ्यवहरासि, तर्हि वा अतिनाष्ट्रो भवितास्मि इति। ३। शश्वद्ध झष आस, सहि ज्येष्ठं वर्द्धते, अथ यतिथीं समां तदौघ आगन्ता तन्मा नावमुपकल्प्योपासासै स औघ उत्थिते नावमापद्यासै ततस्त्वा पारयितास्मीति। ४। तमेवं भृत्वा समुद्रमभ्यवजहार स यतिथीं तत्समां परिदिदेश ततिथीं समां नावमुपकल्प्योपासांचक्रे स औघ उत्थिते नावमापेदे, तं स मत्स्य उपन्यापुप्लुवे, तस्य शृङ्गे नावः पाशं प्रतिमुमोच तेनैतमुत्तरं गिरिमतिदुद्राव। ५। स होवाच अपीपरं वै त्वा वृक्षे नावं प्रतिबध्नीष्व, तं तु त्वा मा गिरौ सन्तमुदकमन्तश्छैत्सीद्, यावदुदकं समवायात् तावत् तावदन्ववसर्पासि इति, । स ह तावत् तावदेवान्ववससर्प तदप्येतदुत्तरस्य गिरेर्मनोरवसर्पणमित्यौघो ह ताः सर्वाः प्रजा निरुवाह अथेह मनुरेवैकः परिशिशिषे। सोऽर्चञ्छ्राम्यंश्चचार प्रजाकामः"। ६। (१। ६।

३। ६ इन कण्डिकाओं का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार अवनेजमान (अपने हाथों से जल सेचन करनेवाले) को जल लाया जाता है वैसे प्रातः अवनेजन के लिये मनु को भी जल लाया गया। जब वह तर्पण करने लगे तो हाथों में एक मत्स्य आगया और बोला कि तू मुझे पाल तो मैं भी तेरी रक्षा करूंगा। [तब दोनों के यों बातचीत हुई] (उ०) हमलोग छोटे रहते हैं तो बड़ी आपत्ति आती है यहाँ तक

कि मछली को मछली भी गटक जाती है सो पहले मुझे घड़े में रखो मैं उससे बढ़ूं तो कोई गड्ढी खोदकर उसमें रखो उससे भी बढ़ूं तो मुझे समुद्र में छोड़ देना । फिर कोई आपत्ति न रहेगी ॥ और वह वैसे ही बढ़ने लगा और कहा कि इतने समय के अनन्तर बाढ़ आवेगी तब तू नाव कल्पना कर मेरी राह देखना । बाढ़ आने पर मैं तुझे बचाऊंगा ॥ मनु ने वे बातें मानी और वैसे ही समुद्र में छोड़ दिया । उतने ही समय पर वहां मनु प्रतीक्षा कर रहे थे कि भारी बाढ़ आई । उसमें वह महामत्स्य भी पहुंचा उसको एक शृङ्ग सा देखपड़ा उसीमें नाव बांधी और वह इसे हिमालय की ओर ले भागा । फिर कहा कि तुम अब इसे हिमालय के वृक्ष में बांध लो और जब जल हटे तो साथ साथ उतरते आना । मनुने वैसाही किया । और सब नष्ट हुए मनु बचे फिर उनने तप किया ॥

इति । उत्तरार्द्ध समाप्त ।

———०॥०———

श्रीहरिः।

अथ

छात्राणामुपयोगाय निबद्धा

अवतारमीमांसाकारिका।

नत्वा श्रीसच्चिदानन्दं सर्वदिव्यगुणाश्रयम्। तस्यावतारविषये मीमांसा क्रियतेऽधुना॥ १॥ मध्ये मध्येऽवतरति भगवान् हरिरीश्वरः। तमाश्रित्यैव सर्वेषां पुराणानामुपक्रमः॥ २॥ श्रवणं कीर्त्तनं चापि तदालम्बं प्रधानतः। रामकृष्णादिमूर्त्तीनां पूजनं च तदाश्रयम्॥ ३॥ अर्चापपादसेवा च तदभावे भवेत् कथम्। पादादिसम्भवो न स्यान्निराकारे परात्मनि॥ ४॥ साकारोऽपि परोक्षस्चेत् कथमर्च्येत मानवैः। अतोऽवतारसद्भावे हि सेवार्चादिकसम्भवः॥ ५॥ अनुग्रहायात्तदेहोऽसाववतीर्य पुनः पुनः। संहितासु पुराणेषु घटाघोषेण कथ्यते॥ ६॥ तथैव भक्तिसूत्राणि तदालम्बानि भान्त्युत। गोप्युद्धारणास्याऽन्यथा सङ्गतिर्भवेत्॥ ७॥ आजानिकोऽवतारस्य स्वीकारेऽपि च केचन।

नसंशयोऽस्मिन्नित्येषोमीमांसारभ्यतेस्फुटम् ॥ ८ ॥ स-
र्व्वशक्तिमतःकिंस्यादवशिष्टंप्रयोजनम् । यस्मिन्विना-
न्यथापश्यन्देवःसोऽवतरेद्भुवि ॥ ९ ॥ इतिप्रश्नेऽ-
वतारस्यप्रयोजनविचारणे । विचार्यतांजगत्सृष्टिर्व-
र्त्तेकिंप्रयोजना ॥ १० ॥ एकाकीनैवरेमतइत्यादि-
श्रुतिलक्षितम् । रमणंयदितत्तत्तद्वापिकथंनहि
॥ ११ ॥ लीलाप्रियोऽयंभगवान्लीलार्थंकुरुतेऽखिल-
म् । लीलारङ्गालयेलीलाःपात्रत्वेनावलम्बते ॥ १२ ॥
विनाविनोदंनोकार्यंक्रीडनेनेहदेहभाक् । मनुष्यध-
र्मशीलस्यलीलामाजगतःपतेः ॥ १३ ॥ एतद्भागवते-
विष्णुपुराणेस्पष्टमीरितम् । लीलावाऽप्यस्यकिंमूला
तद्वद्भगवान्स्वयम् ॥ १४ ॥ तूष्णीकताऽस्मिन्विष-
येनूनंसर्वमतेसमा । सऐक्षतादिश्रुत्युक्ताजगत्कारणा-
तास्फुटा ॥ १५ ॥ लीलामूलत्वसत्त्वेऽपिभात्युद्दे-
श्यत्रयंपुनः । प्रथमंदुष्टदमनंसतांसंरक्षणंतथा ॥ १६ ॥
द्वितीयंधर्मरक्षातोजगतोमङ्गलंमहत् । तृतीयंचा-
पिलीलानांप्राचुर्य्यैर्मधुरीकृतम् ॥ १७ ॥ तत्तत्समय-
संस्थानांसाक्षात्कारकृतांसताम् । सौकर्य्यसाधनं-
सम्यक्परीक्षणांभविष्यताम् ॥ १८ ॥ भगवद्वचनंव्या-
सभाषितंचपुनःपुनः । पूर्वोद्दिष्टत्रयस्यास्तिसाधकंबु-

ध्यतांबुधैः ॥ १९ ॥ प्रयोजकमपरं चैवावतारेषुविलोक्यते । इच्छाभगवतोभक्तप्रार्थनाप्रकृतिस्तथा ॥ २० ॥ संज्ञा-घटोतिनोकिञ्चित्तस्येच्छायदिनोभवेत् । यथैवप्रार्थ्य-तेभक्तैस्तथापिकुरुतेविभुः ॥ २१ ॥ इच्छाप्रार्थनयोरेवं-सत्वेऽपिसमपेक्ष्यते । प्रायोवतारसमयेप्रकृतिर्देशका-कालयोः ॥ २२ ॥ विजिहीर्षुर्जलमयेमत्स्यरूपोयथा-ऽभवत् । जलस्थलेमन्दरधृक्कूर्मोऽभूच्चमहेश्वरः ॥ २३ ॥ ॥ बलबाहुल्यसत्वेऽपिस्वयंशान्तिनृपावन-म् । सकष्टंचमहायासैर्न्तिव्याघ्रान्गजान्मृगान् ॥ २४ ॥ क्वचिच्छ्रान्ताःक्वचिद्भ्रान्तास्तृषिताश्चबुभुक्षि-ताः । स्थिताःपाषाणखण्डेऽपुकाषायजलपायिनः ॥२५॥ तथालीलाप्रियोदेवोरमतेबहुधाभुवि । आयस्तवत्ज्ञा-यतेऽसौनाऽऽयासोजगदीशितुः ॥ २६ ॥

इतिप्रथमोविचारः

अल्पंसर्वव्यापकस्यपरिमाणंकथंभवेत् । द्वितीयोज्ञा-यतेप्रश्नोभीमांस्यःसोऽपिसज्जनैः ॥ २७ ॥ मूर्ततःप-रिमाणस्यपरिणामोनजायते । मानान्तरैकथंतस्या-दव्ययःस्वल्पमानता ॥ २८ ॥ अल्पमानानसन्त्येते ऽवतारास्तुहरेरिमे । इत्थंपूर्वपक्षस्यप्रसरोजाय-

तेऽस्फुटः ॥ २९ ॥ समोच्यतेऽथोदाहरणं गगनं वर्त्तते-स्फुटम् । भूतोत्पत्तिर्न गगनाद्व्यापकाद्दृश्यते क्वचित् ॥ ३० ॥ गगनं व्यापकं नाथ चेतनं परिलक्ष्यते । उदाहृतिबलात्तत्किं परमात्म निरूप्यताम् ॥ ३१ ॥ विजातीयस्वभावेऽस्मिन् महेशे परमात्मनि । वैजात्यात्महनं नूनं वैयात्यमहनं भवेत् ॥ ३२ ॥ अणोरणीयान्महतो-महीयान् श्रूयते हरिः । नमोऽस्त्वायवृहते कथ्यते यायुषेः मदा ॥ ३३ ॥ बहूनि परिमाणानि सन्ति सर्वं गुणेश्वरे । लौकिकेषु विरुध्यन्ति न ब्रह्मणि महेश्वरे ॥ ३४ ॥ अथवा सर्वगो देवो दिव्यं रूपं च कुत्रचित् । आविष्करोति-कालत्रपरिणामविपर्य्ययः ॥ ३५ ॥ बहून्यपि स्वरूपाणि क्वचित्प्रथयति प्रभुः । यथा रासे द्वारकायां नारदागमने तथा ॥ ३६ ॥ एकरूपेऽनुपमानो न बहुत्वे न विभागभाक् । नान्तर्धामेऽस्य शून्यत्वं व्यापकस्य महेशितुः ॥ ३७ ॥ वैलक्षण्यं न दोषाय न वा मानविपर्य्ययः । श्रूयते स्मर्यतेऽप्येवमेवं प्रश्नो निरर्थकः ॥ ३८ ॥

इति द्वितीयो विचारः

———✻———

अलौकिकमहालीलाविशिष्टः परमेश्वरः । किं भक्त मामानवी लीला व्यापारेऽयं न शोभते ॥ ३९ ॥ अतोहि-

तद्विशिष्टेषु नावतारस्य कल्पनम् । मनीषिणां मनी-
षा सुकुमाऽपलभते स्थितिम् ॥ ४० ॥ तृतीयस्य द्वयं प्र-
श्नो मीमांस्यः सोऽपि पण्डितैः । न सम्भवो महेशेऽस्ति-
युद्धत्वामादिसम्भवः ॥ ४१ ॥ दृश्यते सप्रतिपदं रामकृ-
ष्णादिषु स्फुटम् । अतो नेशावतारत्वं तत्र संज्ञाघटी-
तिभिः ॥ ४२ ॥ कुत्र चैवं पूर्वपक्षेऽपि जृम्भमाणे समीक्ष्यता-
म् । कस्यास्ति सम्भवो देवे कस्य वा नास्ति सम्भवः ॥ ४३ ॥
तस्मिन् मा भूज्जडत्वं वा बद्धत्वं वाऽथ दुःखिता । लीला-
प्रियं च कोऽनस्याल्लीलांशः परमेश्वरे ॥ ४४ ॥ राजा को-
ऽपि निजोद्याने रङ्गशालां करोति चेत् । तत्र नाटकली-
लायां स्वयं चेद्याति पात्रताम् ॥ ४५ ॥ अन्यं तत्र निजं-
भृत्यं करोति धरणीपतिम् । सिंहासने तं संस्थाप्य स्व-
यं चेद्याति भृत्यताम् ॥ ४६ ॥ तत्प्रभुत्वक्षतिस्तत्र ली-
लायां जायते नु किम् ॥ लीलायामपि किं तस्मिंस्तथा-
त्वं नैव शोभते ॥ ४७ ॥ किं तस्मिन्नपि कालेऽस्य माहा-
त्म्यं न्यूनतां गतम् । तुष्टो हृष्टोऽथवा तत्तदीयफलदो-
न किम् ॥ ४८ ॥ लीलयांशे कभीत्यादिदर्शनं किं नु-
दोषकृत् । एवं महेश्वरे लीला लीलोल्लासि लसत्यत
॥ ४९ ॥ सृष्टिजालस्य रचना कथं संशोभते हरौ । ली-
लार्थं मा शोभते चेदपराद्धं किमन्यथा ॥ ५० ॥ सर्वस-

रभाव्यतेलीलाविलासिशोभतेऽखिलम् । एवंहृतीय-
प्रश्नस्यनोत्थानावसरःक्वचित् ॥ ५१ ॥ “यथायथो-
पासतेऽमुतथासभवतिप्रभुः । एवंदेवोवरदःखभ-
क्ताभ्यर्थनसाधकः ॥ ५२ ॥ भुविमोनवतामेव्यकाम-
न्पूरयतिप्रभुः । प्रयोजकत्रयत्र्यात्र्याप्रथमेमासमोरि-
ता ॥ ५३ ॥ “उच्चावचेषुभूतषुचरन्वायुरिवेश्वरः ।
नोच्चावचत्वंभजतेनिर्गुणत्वाद्धियोगुणैः ॥ ५४ ॥” श्री-
मद्भागवतेव्यासदेवेनेत्थंसमोरितम् । अतोनाकाश-
वद्देवःसम्पर्कैर्लिप्यतेक्वचित् ॥ ५५ ॥ “मनुष्यदेहिनां-
चेष्टामित्थेवमनुवर्त्ततः । लीलाजगत्पतेस्तस्यच्छन्द-
तःसम्प्रवर्त्तते” ॥ ५६ ॥ एवंविष्णुपुराणेपिलीलाम-
र्मनिरूपितम् । तस्मात्तृतीयप्रश्नोऽपिपूर्तिकूरमोगड-
तांगतः ॥ ५७ ॥

इतितृतीयोविचारः ।

—— ooo ——

तिर्य्यग्योनिषुदेवस्यावतारोनैवशोभते । इयमु-
क्तिस्तुर्थीचेन्निरस्यापूर्ववद्बुधैः ॥ ५८ ॥

इतिचतुर्थोविचारः ।

—— o ——

रामादिष्ववतारेषुजीवाधिक्यंकिमस्त्युत । य-

दृालव्याऽचकन्येतावतारत्वंमहेशितुः ॥ ५९ ॥ अथं-
चेत्पञ्चमःप्रश्नःपूर्वपक्षोऽच लभ्यते । प्रतापिजीवतैव-
स्यामभाभूद्भावतारता ॥ ६० ॥ समोक्षाक्रियतेजीव-
वैलक्षण्यविचारणे । सर्वोऽप्यद्भुतलीलेश्वर्येयाजीव-
विलक्षणा ॥ ६१ ॥ अतस्तमद्भुतंव्यासउपक्रम्यस्य-
रूपयत्। वसुदेवोऽवतारतमत्राभोहंवक्ष्येसुतम्॥ ६२ ॥
चित्ताकर्षणरूपंचमाधुर्यंकुत्रविद्यते । जीवेषुदुर्लभ-
तरमवतारेषुदृश्यते । ६३ ॥ "अस्पन्दनंगतिमतां
तरूणांपुलकस्तथा । विहगानांवशीकारःपशूनामपि-
मोहनम् ॥ ६४ ॥ जीवेनसम्भवत्येतदृब्रह्मण्येवविलो-
क्यते । "तस्यानन्दस्यभूतानिमात्रांजीवन्ति" कथ्यते
॥ ६५ ॥ स "आनन्दमयोऽभ्यासात्" "रसोवैसः" उदीरि-
तः ॥ "तस्मिंश्चित्तंसर्वमोतंप्रजानां" याजुषिस्फुटम् ॥ ६६ ॥
आद्भुत्यंचाथमाधुर्यंवैलक्षण्यमुदाहृतम् ॥ रामकृष्णा-
दयस्तस्मादवताराःप्रकीर्तिताः ॥ ६७ ॥ अतोनपञ्चमः-
प्रश्नोलभतेप्रसरंक्वचित् ॥ अवतीर्णोदेवदेवस्साक्षाद्रा-
मादिरूपधृक् ॥ ६८ ॥

इतिपञ्चमोविचारः।

अवतारावहुविधाःपुराणेषुनिरूपिताः ॥ केचिदं-

आवतारा: स्युः केचित् पूर्णा निरूपिता: ॥ ७१ ॥
तयोः कश्चन भेदोऽस्ति न वा संप्रविचार्यताम्।
नास्ति चेत् सङ्गतिं याया 'एते चांशकला:' कथम् ॥ ७२ ॥
अस्ति चेद् ब्रह्मरूपाः स्युरेकेऽन्ये च तदंशकाः।
ततोऽशानां जीवसाम्यं जीवस्यापि यतोंऽशता ॥ ७३ ॥
'अंशो नानाव्यपदेशा' 'ममैवांश' इतीरितम्।
अंशेषु तारतम्यं चेद् भवेदुत्तमजीवता ॥ ७४ ॥
एवं चेज्जायते प्रश्नः षष्ठो विनिगमासहः।
पूर्णावतारता तु स्यादंशता सम्भवेन्नहि ॥ ७५ ॥
अत्रोच्यते ब्रह्मता तु सर्वत्रापि समा मता।
यादृशो वामनो रामो नृसिंहस्तादृशो हरिः ॥ ७६ ॥
लीला यत्र कृता पूर्णा पूर्णत्वं तत्र भाषितम्।
अल्पोद्देश्याल्पलीला चेदंशत्वमुपचर्यते ॥ ७७ ॥
यथा रामावतारेऽस्ति रीतिनीतिनिदर्शनम्।
शरणागतवात्सल्यं पूर्णं पूर्णा च सत्यता ॥ ७८ ॥
पूर्णा दया धृतिः पूर्णा पूर्णा विद्या च वीरता।
अतोऽसौ पूर्णमर्यादो रामः पूर्णः परेश्वरः ॥ ७९ ॥
कृष्णेन च स्पष्टतया पूर्णता प्रकटीकृता ॥
आह्लुत्यं रसरूपत्वं गुणित्वं बहुरूपता ॥ ८० ॥
लीलाप्रियत्वं स्रष्टृत्वं गुरुत्वं ज्ञानरूपता।

विरुद्धधर्माश्रयत्वं द्वारित्वं तत्प्रसाधकम् ॥ ८१ ॥
भेदे पूर्णांशयोरेवमुपचारैर्निरूपिते।
षष्ठस्य पूर्वपक्षस्य न गतिः कापि विद्यते ॥ ८२ ॥

———•———

शरीरमवताराणां दिव्यं वा पाञ्चभौतिकम्।
प्रश्नेऽस्मिन् सप्तमे जाते पूर्वपक्षो विजृम्भते ॥ ८३ ॥
असिद्धा दिव्यता यावत् तावत्साधवतर्कृतः।
जन्मवृद्धिक्षतादेस्तु स्वीकार्यं पाञ्चभौतिकम् ॥ ८४ ॥
अधुनैतस्य विषये सगाम्भीर्यं विचार्यताम्।
'आनन्दमात्रकरपादमुखोदर' ईरितः ॥ ८५ ॥
अलौकिकस्वरूपस्य श्रुतं सर्वमलौकिकम्।
तदेवं शब्दसिद्धं चेत्कथ्यते किमसाधितम् ॥ ८६ ॥
दृष्ट्वा कांश्चिद् गुणान् भौतान् भौतत्वं यदि कथ्यते।
अलौकिकगुणोल्लेखेऽलौकिकत्वं न किं भवेत् ॥ ८७ ॥
नापि सत्प्रतिपक्षस्य शङ्का कार्या कथंचन।
अलौकिकाभावयुता यदि स्युर्लौकिका गुणाः ॥ ८८ ॥
तदैव साध्याभावं ते साधयेयुर्न चान्यथा।
साध्यं चालौकिकत्वं हि तस्य सर्वेऽपि साधकाः ॥ ८९ ॥
अलौकिकस्य धर्मस्य यदि स्युः सहवर्तिनः।
कत्यपि स्युर्लौकिकास्ते साध्यं संसाधयन्त्युत ॥ ९० ॥

दृश्येत चेत् कोऽपिजनः सर्वैर्लौकिकगुणैर्युतः ।
अन्तर्द्धानस्य पुनः कथ्यतेऽलौकिको जनैः ॥ ९१ ॥
एकोऽप्यलौकिको धर्मः कोटिशो लौकिकान् गुणान् ।
विमथ्नाति हरेर्नाम यथा पापानि कोटिशः ॥ ९२ ॥
विग्रहाण्यवताराणां तस्माद् दिव्यानि सन्त्युत ।
चिकित्सा विचिकित्साया इह तर्कैर्निरूपिता ॥ ९३ ॥

अवतारग्रहे बाधाभावेऽपि परिसाधिते ।
अस्ति तत्र प्रमाणं किं प्रश्नोऽयं जायतेऽष्टमः ॥ ९४ ॥
एवं प्रमाणसद्भावे कैश्चिच्चेत् पृच्छ्यते क्वचित् ।
ईदृशे धर्मविषये प्रमाणं किं परीक्ष्यताम् ॥ ९५ ॥
सद्भिरङ्गीकृतो नित्यं स्वीकार्यो विषयो जनैः ।
महानत्राग्रहो दृष्टो मन्वादीनां महात्मनाम् ॥ ९६ ॥
अवतारः स्वीकृतोऽस्ति मुनिभिर्नारदादिभिः ।
आचार्यैः सम्प्रदायानां संहिताकारकैर्बुधैः ॥ ९७ ॥
निबन्धकारकैः प्राज्ञैः कविभिः पण्डितैर्हितैः ।
तस्मात् सदादृते कार्ये कार्यो नैवाऽत्र संशयः ॥ ९८ ॥
"वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम् ।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च" ॥ ९९ ॥
मनुप्रोक्ता प्रमाणानामियमस्ति परम्परा ।

पूर्वानुक्ते परं मानं विज्ञेयं पूर्वपूर्वकम् ॥ १०० ॥
पूर्वोक्ते परतो ज्ञेयमनुक्ते तत् स्वतस्तथा ।
विरोधे पूर्वमेवाऽत्र ग्राह्यं परंनैव क्वचित् ॥ १०१ ॥
पूर्वाविरोधेन यदि स्त्रीकृतं भारतेऽखिलैः ।
आर्य्याचारप्रचारेऽत्र संशयप्रसरः कथम् ॥ १०२ ॥
पुराणानां प्रमाणत्वं छान्दोग्ये स्पष्टमीरितम् ॥
बृहदारण्यके चापि नेह संदेहसम्भवः ॥ १०३ ॥
प्रमाणमासीत् प्रत्यक्षमवतारसमुद्गमे ।
तद्द्रष्टृभिः परस्ताच्च शब्देनाबोधि तत्स्थितिः ॥ १०४ ॥
तच्छ्रोतृभिः पुनः शब्दैरितरे बोधिताः स्फुटम् ।
पौनःपुन्यैः समायातः शब्दोऽद्यापि विजृम्भते ॥ १०५ ॥
प्रसिद्धेश्चानुमानेनावतारित्वं प्रसिद्ध्यति ।
वेदेन बोध्यते सर्वं ततः कोन्वधिकः परः ॥ १०६ ॥
'सद्योवाचे' त्यादिनाथ वक्ति गोपालतापनी ।
सर्वं कृष्णावतारस्य तत्त्वं तत्र निरूपितम् ॥ १०७ ॥
तथा यजुःसंहितायां " मिदं विष्णुर्विक्रमे " ।
" विष्णो र्नुकं " श्रुतिरियं " प्रजापति " रियं तथा ॥ १०८ ॥
ऋग्वेदेऽपि " दशानामेका " मित्यादिनिरूपितम् ।
" प्रतद्विष्णुः " " प्रकाव्यं " च " कृष्णांतम " इति श्रुतिः ॥१०९॥
" सद्योजातस्य ददृशानमोजो "ऽथ " ऋतस्य हि " ।

" यस्मिन् विश्वान्या " विके चा 'प्यपिवत् कद्रुवः सुतम "
छान्दोग्योपनिषद्भागेऽ"थैतदा"दि समीरितम् ॥ ११० ॥
श्रुतिभ्योऽप्यधिकं मान्यं प्रमाणं किमपेक्ष्यते ॥ १११ ॥
तस्मात् सर्वशिरोधार्यप्रमाणैः प्रमितः प्रभुः ।
लीलावतारकलनो हरिर्विजयतेतराम् ॥ ११२ ॥
इत्येवमष्टमः प्रश्नः स्थितिं न लभते क्वचित् ।
नावतारस्य विषये सन्देहः कोऽपि शिष्यते ॥ ११३ ॥

इति पूर्वार्द्धम्

बालानां चेदुपप्रश्नाः केचित् स्युरपरे पुनः ।
तेऽपि त्वन्तर्भवन्त्येव पूर्वोक्तेषु न संशयः ॥ ११४ ॥
तथापि कथ्यते किञ्चिदपरं तद्विचारणम् ।
एतत्पर्य्यालोचनेन शङ्कापङ्को निवर्त्तते ॥ ११५ ॥
सीतावियोगवैकल्यं रामचन्द्रे विलोक्यते ।
कृष्णस्य बन्धनं चैव नावतारत्वसाधकम् ॥ ११६ ॥
प्रामाण्यं न पुराणानामुरीकुर्मः कथंचन ।
एवं पृच्छन् तृतीयां किं समीक्षां नैव पश्यति ॥ ११७ ॥
किं चाऽभावे पुराणानां क्व दृष्टं तन्निरूपणम् ।
स प्रमाणं न वा तस्य यस्मिन् ग्रन्थे विलोकितम् ॥ ११८ ॥
आद्यं चेत् साधनीयं किं नास्ति चेत्खंड्यते किमु ।
एवं विकल्पासहत्वात् पृच्छा न लभते स्थितिम् ॥ ११९ ॥

लेशोऽपि लौकिकत्वस्य यदि नैव भवेद्धरौ ।
अवतारः कीदृशोऽस्य मनसापि न कल्प्यताम् ॥ १२० ॥
लौकिकत्वालौकिकत्वं मिश्रितं यत्र दृश्यते ।
अवतारः स विज्ञेयो हरेरानन्ददायकः ॥ १२१ ॥
सर्वैरसैश्च माधुर्यैः पूर्णा लीला महेशितुः ॥
हरन्ति हृदयं ह्येषो सर्वेषां श्रवणमात्रतः ॥ १२२ ॥

—— ० ——

केचिच्च पण्डितंमन्यास्तर्ककर्कशकल्पनाः ।
रूपकातिशयोक्त्यैव लापयन्ति कथा इमाः ॥ १२३ ॥
तेषां तु हृदयं लङ्का ज्ञानं रामः समीरितः ।
विभीषणः सत्वगुणो रावणश्च रजोगुणः ॥ १२४ ॥
तमोगुणः कुम्भकर्णो जगज्जलधिरेवच ॥
दुर्वृत्तयो राक्षसाश्च वानराश्च सुवृत्तयः ॥ १२५ ॥
तेषां न तत्त्वतो रामो रावणो वाऽस्ति कश्चन ।
नायोध्या चित्रकूटो वा लङ्का वा क्वाऽपि वर्त्तते ॥ १२६ ॥
एवं चेत्प्रत्यक्षबाधो दृश्यतेऽद्यापि तत्स्थलम् ।
कियत्सत्यं कियन्मिथ्या कल्पनेयं तु नोचिता ॥ १२७ ॥
यदि चेद्रामवंशीया लभ्यन्तेऽद्यापि मानवाः ।
राम एव कथं मिथ्या स्यादलङ्कारमात्रगः ॥ १२८ ॥
रूपकातिशयोक्तौ च क्रमोऽपि परिकल्प्यते ।

मिथ्याभूतं न किंचित्स्यादत्र तत्सम्भवेत् कथम् ॥ १२९ ॥
गीतोपदेशं किं कुर्य्यात् कृष्णो रूपकमात्रगः।
कल्प्यस्तस्यार्जुनस्यापि कथं पौत्रः परीक्षितः ॥ १३० ॥
अतो न कल्पनामात्रेणोचितं तत्त्वगोपनम्।
भक्तानुकम्पी भगवानवतारो जयत्यसौ॥ १३१ ॥

ईशः को वक्ति चेत्कोऽपि रामभार्गवयोर्द्वयोः।
द्वौ चेद्द्वित्त्वं न चेत् किं स्याद् द्वयोरप्यवतारिता ॥ १३२ ॥
नैव देवस्त्वेक एव रूपे द्वे लीलया कृते।
अनेकरूपरूपः स भारतादौ निगद्यते ॥ ॥१३३
मीमांसायां द्वितीयायां स्पष्टमेतदुदीरितम्।
नानारूप्येपोऽकरूपो यथेच्छं स प्रकाशते ॥ १३४ ॥

वदेत् कश्चित् कथा भेदात् कथं विनिगमो भवेत्।
विरोधस्तु महान् दृष्टः पुराणानां परस्परम् ॥ १३५ ॥
तदसच्छेष भागेन सिध्यत्येषावतारिता।
विरुद्धांशपरित्यागो नावतारित्वबाधकः ॥ १३६ ॥
भवेत्तात्पर्य्यभेदो वाऽन्योर्थः कल्पान्तरं च वा।
लेखप्रमादः क्षेपो वा बोधवैकल्यमेव वा ॥ १३७ ॥
शङ्कापङ्क कलङ्कोयं नावतारे ततो भवेत्।

भक्तो नाङ्गीकरोत्येषाऽतो वतारप्रतारणम् ॥ १३८ ॥

———०———

कोऽपि भाषेत चेत् कृष्णः क्वचित् पूर्ण उदीरितः ।
क्वचिदंशोऽविनिगमाद् द्वयं किंननिरस्यते ॥ १३९ ॥
तुच्छा पृच्छा यतस्तत्त्वार्थस्तेषांनावधारितः ।
सिद्धान्ते पूर्णता प्रोक्ताशतास्यात्लोकभाषणम् ॥ १४० ॥

———०———

बालस्वेत् कथयेत् कोऽपि रामेणानुचितं कृतम् ।
ताडका स्त्री हता बालिरधर्मेण विनाशितः ॥ १४१ ॥
वने निर्वासिता सीता गर्भिणी सा तपस्विनी ।
तस्मान्नास्मिन्नीश्वरत्वं भवत्वेष नरोत्तमः ॥ १४२ ॥
नैवं तृतीया मीमांसा परिपूर्णा तदुत्तरम् ।
बुद्धं चाऽस्त्यन्यथामसर्वंतत्त्वं नैव विवेचितम् ॥ १४३ ॥
पित्राज्ञप्तं कौशिकोक्तिः पालनीयास्ति सर्वथा ।
गुरुणा कौशिकेनाथ तथाज्ञप्तं वनस्थले ॥ १४४ ॥
तत्रापि रामचन्द्रस्य नोत्साहोऽभूत् स्त्रिया हतौ ।
ततस्तु धर्मशास्त्रोक्त्या बलाज्जग्राह कौशिकः ॥ १४५ ॥
उचितं तत्र रामेण ताडकाहननं कृतम् ॥
बालिना सह युद्धस्य विषयः क उपस्थितः ॥ १४६ ॥
दुष्टस्य दमनं राजधर्ममासाद्य तत्कृतम् ।

प्रयानं चाऽथ वालिं तत् संबोध्य स्फुटमीरितम् ॥ १४७ ॥
सीतानिर्वासनकथा सूक्ष्मदृष्ट्या विचार्यताम् ॥
तत्र लीलोपसंहारो हरिणाऽस्त्युररीकृतः ॥ १४८ ॥
अतः सा कैतयाचार्थं भूमिका विहिताऽस्ति सा ॥
सीतारामौ सदायुक्तौ वियोगो नैव कर्हिचित् ॥ १४९ ॥
अकीर्त्यप्रियता तत्र लीलया समुदाहृता ।
कृतं प्राधान्यमेकस्या अन्यत् तत्साधकं कृतम् ॥ १५० ॥
भार्गवेण यथा माता भ्रातरश्च हताः स्फुटम् ।
पितुराज्ञैव शिरसा प्राधान्येन समादृता ॥ १५१ ॥
यथा दशरथः सत्यं मानयन् राममत्यजत् ।
रामस्य च वियोगेनात्याक्षीत्प्राणानपि स्वयम् ॥ १५२ ॥
एवं निन्दाग्लानिमेव प्रधानां परिचिन्तयन् ।
दुःखितः स्वनुजान् प्राह सीतां शुद्धां विदन्नपि ॥ १५३ ॥
"अप्यहं जीवितं जह्यां युष्मान् वा पुरुषर्षभाः ।
अपवादभयाद् भीतः किं पुनर्जनकात्मजाम्" ॥ १५४ ॥
अत्यन्तनिन्दासम्बाधे भवेत्सत्यनिगूहनम् ॥
इति सन्दर्शयन् रामो दूयमानो विचारयन् ॥ १५५ ॥
वाल्मीकेराश्रमे पुण्ये तमसातीरसंस्थिते ।
सीतासंस्थापनं युक्तिसम्बद्धं सममंस्त सः ॥ १५६ ॥
यत्कथास्मरणादेव हृदस्माकं विदीर्यति ।

तामप्युरीचकारैष मर्यादापुरुषोत्तमः ॥ १५७ ॥
भवेद् योग्यमयोग्यं वाऽस्माकमाचरणे सदा ।
ईश्वरस्य जगद्भर्तुः सर्वं योग्यमुदीरितम् ॥ १५८ ॥
उपसंहारलीलायां न स्यादुद्दङ्कनं वरम् ।
सर्वथाप्युपसंहारो हृदयं परिविध्यति ॥ १५९ ॥

———o———

यदि प्रत्यवतिष्ठेत जल्पाकः कोपि जल्पनैः ।
किमु कृष्णो गोपिकानामहार्षीद्वस्त्रसंचयम् ॥ १६० ॥
जलान्निर्गमनार्थं वा हठं किमु चकार च ।
स उच्यतां नु मीमांसा त्वतीया किं न वीक्षिता ॥ १६१ ॥
अनुष्ठानव्रताकृष्टो हरिस्तत्रागतः स्वयम् ।
दयमानोऽनुरागेण क्षिप्यमाणस्तथा करोत् ॥ १६२ ॥
वृताङ्गभङ्गपूर्तिं चाकारयत् देववन्दनैः ।
पर्यैक्षिष्ट च तासामनुरागं महोर्जितम् ॥ १६३ ॥
लज्जैवैका कुलस्त्रीणां सम्भवेत् प्रतिबन्धिका ।
समानविषयां वृत्तिं प्रतिबध्नाति सा सदा ॥ १६४ ॥
इमाः प्रेमप्रवाहेण स्वात्मानं च विसस्मरुः ।
स्वपरज्ञानसंपोष्यां लज्जां च परिचिच्छिदुः ॥ १६५ ॥
एवं दृष्ट्वा गोपिकास्ता विदितात्मनिवेदनाः ।
प्रवृद्धानुरागाः सरलाः प्रासीददर ईश्वरः ॥ १६६ ॥

दर्शयन् स्वानुरागं हि सर्वानुष्ठानसाधकम् ।
" सोऽश्नुते सर्वकामानि " त्यादि प्राबोधयत् स्फुटम् ॥१६७॥

———o———

सोन्मादं कथयेत् कोऽपि परिव्रज्य हरिं स्त्रियः ।
औपपत्यं कथं तेषां हरिणानूररीकृतम् ॥ १६८ ॥
तत्रोच्यते लोकरीत्यावयोग्यं परिभात्यदः ।
परं किं स्यादनुचितं चोचितं च महेशितुः ॥ १६९ ॥
जगत्प्रलयकर्तृत्वं यस्य नानुचितं भवेत् ।
तस्य किं मानवी भाषा प्रमाणं योग्यताविधौ ॥ १७० ॥
यद्रोमवातविहता भ्रमन्त्यणुपरम्पराः ।
एतस्य महतः का स्याद् बन्धिकानियमावलिः ॥ १७१ ॥
कस्मिंश्चिच्च तदण्डेषु कृताः कैश्चिन्महर्षिभिः ।
नियमा मान्यतां याताः प्रमिता अनुयायिभिः ॥ १७२ ॥
तस्यामेव पृथिव्यां चान्येतदैव विरोधिनः ।
विधायान्यादृशान् कांश्चिन्नियमान् विलसन्त्युत ॥ १७३ ॥
स्वस्वाचार्यानुगाः सर्वे विभिन्नमतसंस्थिताः ।
तेषु केनाऽथ सूत्रेण बद्धः स्याद् भगवान् हरिः ॥ १७४ ॥
किं च देवी वरदराड् भक्तानुग्रहकारकः ।
पुत्रो यथाभूद्देवक्या अभूद् गोपीपतिस्तथा ॥ १७५ ॥
भक्तिकाण्डानुसारेण विहितात्मनिवेदनाः ।

पूर्वं कृतानुष्ठानास्ता वव्रिरे चेद्धरिं पतिम् ॥ १७६ ॥
“ ये यथा मां प्रपद्यन्ते ” प्रतिज्ञामिति योऽकरोत् ।
नाङ्गीकुर्य्यात् कथं सैष देवो भक्ताभिभाषितम् ॥ १७७ ॥
शुद्धानुरागक्रीतोऽसौ दृष्ट्वा बालास्तथाविधाः ।
अनन्यशरणाः प्रेमपरतन्त्रा दृढाः सतीः ॥ १७८ ॥
अङ्गीचकार भगवानुपदेशैरमोचिताः ।
भक्तिकाण्डे तदेतस्य कथं वानुचितं भवेत् ॥ १७९ ॥
उपदेशैर्विचलिताः शुद्धप्रेमपराङ्मुखाः ।
कर्मभङ्गविभीतास्ता केवलं दर्शनेच्छवः ॥ १८० ॥
परानुरागरहिता अकृतात्मनिवेदनाः ।
स्त्रियो याज्ञिकविप्राणां कृष्णेन परिवर्तिताः ॥ १८१ ॥
इमा निवेदितात्मानोऽनुरागैकवशंवदाः ।
निवर्तनेऽप्यचलिताः सर्वथा हरिसंश्रयाः ॥ १८२ ॥
संछिन्नाखिलमर्यादापाशदुर्जरबन्धनाः ।
देहगेहस्नेहशून्या मरणे कृतनिश्चयाः ॥ १८३ ॥
निजात्मानो निजपरा निजैकशरणाः प्रियाः ।
अनन्यगतिका गोप्यः कृष्णेनाङ्गीकृताः स्फुटम् ॥ १८४ ॥
भक्तिकाण्डानुसारेण हरिणा तद् वरं कृतम् ।
तासां त्यागेन हननं सर्वथाऽनुचितं भवेत् ॥ १८५ ॥
पुनश्चेत् कथयेत् कोऽपि गोपीभिः सहितो निशि ।

रेमे स भगवांस्तत्तु कथमप्युचितं नहि ॥ १८६ ॥
यतो न शोभते कृष्णे विषयासक्तिरीदृशी ।
पापकर्म हरौ पूर्णे नोचितं स्यात् कथंचन ॥ १८७ ॥
स्वभक्तानां च गोपीनां गर्ह्यं गर्ह्यं प्रवर्त्तनम् ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते इति येन प्रभाषितम् ॥ १८८ ॥
कथं तेनानुष्ठितं तद् दुष्प्रवृत्तिविधायकम् ।
सर्वथा निन्दितं कर्म परदाराभिमर्षणम् ॥ १८९ ॥
चतस्रो युक्तयस्त्वेताः सुगम्भीरा दुरुत्तराः ।
हरेर्विहारं गोपीभिस्साधयन्ति सुनिन्दितम् ॥ १९० ॥
इति चेद् ब्रूमहे तेन ज्ञातं नानधिकारिणा ।
आसां माधुर्यलीलानां तत्त्वं न परिलक्षितम् ॥ १९१ ॥
अत एवेदृशी लीला गोपनीया समन्ततः ।
दिव्यो नैव रसास्वादो जायतेऽनधिकारिणाम् ॥ १९२ ॥
अत एवानुरागस्य कथापि हृदये न चेत् ।
आसां प्रत्युत्तरमपि न भवेद् हृदयङ्गमम् ॥ १९३ ॥
दृश्यतां प्रथमा युक्तिर्विषयासक्तिसूचिका ।
परन्तु मिथ्यैवोक्तं तद् यतः सा न हरौ भवेत् ॥ १९४ ॥
हरेर्लीलासु दृश्यन्ते व्यवहारास्तु यादृशाः ।
नासक्तयस्तासु तासु सम्भाव्यन्ते परेशितुः ॥ १९५ ॥
अत एव शुकेनापि पञ्चाध्याय्यां पदे पदे ।

स्वबिम्बविभ्रमो बाल आत्माराम इतीरितम् ॥ १९६ ॥
न च प्रवृत्तिरेवात्र विषयेच्छा प्रयोजिका।
एवं चेद् दूषणाय स्युः सर्वा एव प्रवृत्तयः ॥ १९७ ॥
क्वचित् कोपः क्वचित्कामः क्वचिल्लोभोऽपि सेत्स्यति।
विशेषो रामलीलायां नैव कोऽपि विलोकितः ॥ १९८ ॥
सर्व एव यतश्चित्तविकारा ब्रह्मदूषणम्।
अतोऽस्ति लीलामात्रं हि विकृतिर्न चितः क्वचित् ॥ १९९ ॥
सृष्टिप्रवृत्तिमत्वाच्च ब्रह्मणः किं न सा भवेत्।
अब्रह्मविषयं तच्चेत् कृष्णमुद्दिश्य नोच्यताम् ॥ २०० ॥
कृष्णः साक्षात् परब्रह्म पूर्णश्च पुरुषोत्तमः।
श्रौतैः प्रमाणैरेतत्तु पूर्णतः प्रतिपादितम् २०१ ॥
युक्त्याभासो द्वितीयोऽस्ति पापं कृष्ण उदीरितम्।
कृष्णे परब्रह्मरूपे न लेशः पापपुण्ययोः ॥ २०२ ॥
पापसंज्ञा पुण्यसंज्ञा वासनाजन्यकर्मणाम्।
न तस्य वासना काचित् पूर्वमेतदुदीरितम् ॥ २०३ ॥
कर्मणां बन्धहेतूनां ते संज्ञे समुदीरिते।
बन्धस्य सम्भवो नास्ति कृष्णादीनां स्फुटं त्विदम् । २०४ ॥
भवन्ति बन्धरहिता यत्पादाम्बुजसंश्रयाः।
स कथं नु भवेद्बद्धो भगवान् पुरुषोत्तमः ॥ २०५ ॥
श्रीमद्भागवते कृष्णेनोक्तमेकादशे स्फुटम्।

"गुणस्य मायामूलत्वान्न मे मोक्षो न बन्धनम् ॥ २०६ ॥
तेजोयशां च दोषाय नैव कापि क्रिया भवेत् ।
तेजोनिधौ कथं सा स्याद्रवेरपि विकाशके ॥ २०७ ॥
युक्तिसंज्ञा तृतीयापि चेत्त्वद्वर्तनाकृता ।
भक्तानां किं नु गोपीनां कृतं गर्ह्यं प्रयोजनम् ॥ २०८ ॥
मदस्त्प्रेरणा नैव हरिणा विहिता क्वचित् ।
किन्तु प्रबोधिता 'घोररूपा' इत्यादिभाषणैः ॥ २०९ ॥
किञ्च केनापि भावेन साम्मुख्यं मङ्गलायनम् ।
"गोप्यः कामाद् भयात्कंसः" स्पष्टमित्यादिषूदितम् ॥ २१० ॥
"युवां मां पुत्रभावेन ब्रह्मभावेन वाऽसकृत् ।
इत्याद्यपि च भावं हि वक्ति सर्वार्थसाधकम् ॥ २११ ॥
न्ययोजिषत नो गोप्यो विहारो वा न निन्दितः ।
अत आक्षेपनिक्षेपस्त्वित्तविक्षेपजो न किम् ॥ २१२ ॥
वस्तुतस्ता न गोपानां कन्याः साधारणास्त्रियः ।
श्रुतयो ह्यवतीर्णास्ताः सगुणोपासनेच्छवः ॥ २१३ ॥
बृहद्वामनके सर्वमेतत् स्पष्टमुदीरितम् ।
शक्तित्वमपि गोपीनां श्रुतमाथर्वणे स्फुटम् ॥ २१४ ॥
गोप्यो नामेत्युपक्रम्य चन्दनं गोपिचन्दनम् ।
इत्यन्तमौपनिषदं वाक्यजातं विलोक्यताम् ॥ २१५ ॥
न वाच्यं श्रुतिशक्तीनां मूर्तिमत्ता कथं भवेत् ।

" वेदा यथा मूर्त्तिधरा " इत्युक्ता वेदमूर्त्तिता ॥ २१६ ॥
" कालस्वभावसंस्कारकामकर्मगुणादिभिः।
स्वमहिम्नस्तमहिभिर्मूर्तिमद्भिरुपासिताः " ॥ २१७ ॥
इत्यादिषु स्पष्टमेव तेषां मूर्त्तिरुदीरिता।
गोप्यो देव्योऽपि चैवोक्ताः "सम्भवन्तु सुरस्त्रियः" ॥२१८॥
न शक्तिश्रुतिदेवीभिर्विचारो दोषकृद् भवेत्।
न वावरहराजस्य वरदानं प्रदूष्यते ॥ २१९ ॥
निदर्शनं कृतं मन्दं कथं तुर्य्यं यदीर्यते।
तत्रोच्यतेऽवताराणां सर्वं न स्यान्निदर्शनम् ॥ २२० ॥
" चोदनालक्षणो धर्म " स्तत्क्रियालक्षणो नहि।
धर्मशास्त्रविरुद्धं चेदैश्वर्य्यं न जनोचितम् ॥ २२१ ॥
" विनश्यत्याचरन् मौढ्याद्यथा रुद्रोऽब्धिजं विषम्।
" तेषां यत् स्ववचोयुक्तं बुद्धिमांस्तत् समाचरेत् ॥ २२२ ॥
ऐश्वर्य्यं कृष्णलीलायां परिदृष्टं पदे पदे।
तस्मान्न कृष्णलीलाया अन्यार्थं स्यान्निदर्शनम् ॥ २२३ ॥
अन्योऽपि संशयः कोऽपि कस्यापि यदि जायते।
साङ्गोपाङ्गः सोऽपि सर्वैः समालोच्यः समादरात् ॥ २२४ ॥
प्रशस्यन्ते गोपिका या भक्तिग्रन्थेषु सर्वतः।
उच्यन्ते चाधारभूताः परभक्तेश्च भावुकैः ॥ २२५ ॥
अनुरागेण सत्त्व चेत् ता दधुः कामवासनाम्।

एतन्न रुचिरं भाति प्रशस्तेष्वपि दूषणम् ॥ २२६ ॥
साङ्कर्यं शोभते नैवैकव्यक्तौ ग्राह्यहेययोः ।
हेयांशसहितास्तास्तेत्कथंकारं समादृताः ॥ २२७ ॥
इति चेच्छ्रूयतां तेषां प्रशंसा प्रेममात्रतः ।
कामांशो हेय एवाऽस्ति,स चेद् भक्तेरसाधकः ॥ २२८ ॥
कामत्वेन तु कामांशो हेय एवाऽस्त्युदाहृतः ।
"केमाः स्त्रियो वनचरीरि" त्यादौ व्यज्यते हि तद् ॥ २२९ ॥
कुब्जा प्रकरणे चैव व्यासेन स्पष्टमीरितम् ।
काममात्रस्य हेयत्वाद् "दुर्भगेयमयाचत" ॥ २३० ॥
हेयत्वेऽपि च गोपीनां कामो नासीत् स तादृशः ।
भगवद्विषयत्त्वाद्धि कामस्यापि प्रशस्यता ॥ २३१ ॥
न च प्रशस्यतापत्तिः कौब्जे कामेऽपि जायते ।
अवच्छेदकभेदोऽस्ति स नासीद् भगवद्धिया ॥ २३२ ॥
"माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोऽधिकः ।
स्नेहो भक्तिरितिप्रोक्तस्तया मुक्तिर्न चान्यथा" ॥ २३३ ॥
एवं नारदमार्गेण ज्ञेयं माहात्म्यमादितः ।
माहात्म्यज्ञानसम्पत्तिर्गोपीनां स्फुटमीरिता ॥ २३४ ॥
"प्रेष्ठो भवांस्तनुभृतां" "भवान् व्रजजनार्तिहृत् ।"
इत्यादिवाक्यजातेन स्पष्टं तत्परिबोध्यते ॥ २३५ ॥
नारदीयेऽप्येकविंशद्वत्रमारभ्यभाषितम् ।

स्पष्टं माहात्म्यविज्ञानविस्मृतिर्नेति बोधितम् ॥ २३६ ॥
कामांशोऽपि क्रमेणैवानुरागत्वमुपागतः ।
एवं तासामवस्थे द्वे सकामाकाम संज्ञके ॥ २३७ ॥
गौणकामाः सानुरागाः वंशीं श्रुत्वा समागताः ।
कामप्रसन्नो न हरिः " शुद्धभावप्रसादितः " ॥ २३८ ॥
लक्ष्यीकृत्य स कामांशं बहुशः प्रत्यबोधयत् ।
दृष्ट्वा च " विक्लवं तासां " प्रहस्याङ्गीचकार ह ॥ २३९ ॥
कामं जिघृक्षुर्भगवांस्तं पूर्वं समवर्द्धयत् ।
अन्तर्धानादिभिस्तं च समूलमुदपाटयत् ॥ २४० ॥
निरुद्योगाभिमानास्ता अरुदन् विकला यदा ।
तदा प्रादुर्भूय देवः शुद्धास्ता अभजत् स्वयम् ॥ २४१ ॥
पूर्वमासन् सकामास्ता अकामाः परतस्तथा ।
पूर्वप्रकरणे प्रोक्तं " स्त्रीणां चैवदुरात्मनाम् " ॥ २४२ ॥
परप्रकरणे चैव स्त्रीरत्नपदबोधिताः ।
वाञ्छिन्तं तनूद्भवेनाऽपि ह्यासां चरणरेणवः ॥ २४३ ॥
माभूत्कस्यचन मोहोऽत्र निष्कामा गोपिका मताः ।
अवस्था भेदमज्ञाय शङ्क्यते चेद् वृथैव तद् ॥ २४४ ॥

---o---

पृच्छ्यतेऽन्यैर्यदि ब्रह्मावतारत्वमिहागतम् ।
शिष्टं शून्यं खण्डितं वा दूषणाय इदं भवेत् ॥ २४५ ॥

इति चेदुक्तपूर्वं तत्पुनस्त्रापि निरीक्ष्यताम् ।
सर्वेषां गणितानां न दृश्यन्तेऽत्र विधाः समाः ॥ २४६ ॥
शून्यात् तदंशः सर्वं वा परिनिष्कासितं भवेत् ।
शेषे भेदो नैव दृष्टो वैलक्षण्यमिदं महत् ॥ २४७ ॥
कोटिशोऽपि त्वनन्ताच्चेदूनिताः शिष्यते सहि ।
ज्ञानदीपादिदृष्टान्तोऽप्येवं हि परिकथ्यते ॥ २४८ ॥
पूर्णपूर्णो हरिस्त्वेवं वेदे निगदितं यथा ।
"पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते" ॥ २४९ ॥

———o———

प्रादुर्भूतं ब्रह्म पुनर्व्यवाहार्षीत् तथाब्रवत् ।
एवं वेदे क्वापि नास्ति स्वभावः किं स कथ्यते ॥ २५० ॥
इति चेद् दृश्यतां सामवेदे खण्डे तृतीयके ।
स्पष्टं तलवकारोपोनिषत्सु परिकीर्तितम ॥ २५१ ॥
प्रादुर्भूयाथ किं वीर्यं कोसीत्यादि च पृच्छ्यते ।
वारं वारं ब्रह्मणा तन्नावतारे विलक्षणम् ॥ २५२ ॥

———o———

क्रमशो नावतारस्य कथा वेदे विलोकिता ।
एवं चेत् किं शतपथे ब्राह्मणे न विलोकितम् ॥ २५३ ॥
मत्स्यावतार घटना सर्वोक्ता "मनवे ह वै" ।
इत्यारभ्याऽथ किंशिष्टमवतारविचारणे ॥ २५४ ॥

अन्याऽपि जायते शङ्का काचिच्चेद्वितर्किता ।
पूर्वं कृता हि मीमांसा स्यात् तस्या अपि बाधिका ॥ २५५ ॥
घृतदुग्धादिकमपि ज्वरिणां ज्वरवर्द्धकम् ।
तथा शङ्कावहं चित्रमवतारनिरूपणम् ॥ २५६ ॥
एषावतारमीमांसा श्रद्धाविश्वासदायिनी ।
कुतर्ककर्त्तनी शङ्कापङ्कसङ्कटशोषिणी ॥ २५७ ॥
सादरं हरिदासानां करयोरर्पिता मया ।
हरिणा हृद्गतेनैव सानुक्रोशं प्रकाशिता ॥ २५८ ॥
हरिर्दिव्यगुणो देवो लीलामानुषविग्रहः ।
प्रीयतामनया कृत्या दीनबन्धुर्दयानिधिः ॥ २५९ ॥
एकोनविंशशतके पञ्चपञ्चाशदुत्तरे ।
वैक्रमेऽब्दे समाप्तेयमवतारविवेचना ॥ २६० ॥
अम्बिकादत्तगौडेन हरेश्चरणसेविना ।
कृतावतारमीमांसा स्यात्सदासुधियां मुदे ॥ २६१ ॥

इत्यवतारमीमांसाकारिका

समाप्ता ॥

श्रीहरिः ।

॥ अवतारमीमांसा ॥

अवतार-कारिका-सहित

पोरबन्दरनिवासी, बल्लभकुलावतंस, गोस्वामि-श्री १०८ जीवनाचार्य महाराज की आज्ञानुसार.

पटना गवर्मेन्टकालिज के प्रधानसंस्कृताध्यापक
भारतरत्न पण्डित अम्बिकादत्त व्यास
साहित्याचार्य रचित ।

हरिप्रकाश यन्त्रालय
काशी
१८५६
पहिली बार १०००]
[मूल्य ॥।)